वैदिक धर्म

[मासिक पत्र]

संपादक — पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,
सहसंपादक — पं० दयानंद गणेश धारेश्वर, B. A.

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु. वी. पी. से ५।।) रु. विदेशके लिये ६।।) रु.

वर्ष २४] [अङ्क ५

विषयानुक्रमणिका

वैदिकधर्म

क्रमाङ्क २८१

वर्ष २४ : : : : अङ्क ५

वैशाख संवत् १९९९

मई १९४२

सामर्थ्य की वृद्धि ।

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे
वीळू उत प्रतिष्कमे ।
युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी
मा मर्त्यस्य मायिनः ॥

(ऋ० १।३९।२)

" आपके शस्त्रास्त्र शत्रु के विनाश के लिये सुदृढ और शत्रु को प्रतिबन्ध करने के लिये समर्थ हों। आपका सामर्थ्य प्रशंसाके लिये योग्य हो। आपके समान ही कपटी शत्रु का सामर्थ्य कभी न हो। "

शत्रु की अपेक्षा आपका सामर्थ्य अधिक हो, जिस से आपका सदा विजय होता रहे।

अथर्ववेद की छपाई।

अथर्ववेद की छपाई हुई या नहीं हुई, इस विषय में ग्राहकों से प्रति दिन अनेकानेक पत्र आ रहे हैं। अथर्ववेद की छपाई समाप्त होने के पास पहुंची है। अन्तिम ५।६ फार्म छपने के बाकी हैं, शेष छपाई हो चुकी है। यह सब इस मास में छपकर तैयार हो जायगी और अगले मास में यह अथर्ववेद ग्राहकों के पास भेजा जायगा।

इस समय कागज के तथा जिल्द के सामान के अभाव के कारण जो कठिनता हो रही है, उसका अनुभव छोटे मुद्रणालयवाले ही कर सकते हैं। इस विषय में ग्राहकोंसे इतना ही निवेदन है कि, वे इस घोर समयका अवलोकन करके कार्यमें थोडी देरी हुई, तो उसकी क्षमा करें। अनेक प्रयत्नों के करने पर भी कागज की प्राप्ति नहीं हो रही है। कागज के विना छपाई में जो विघ्न हो रहा है, वह कागज की प्राप्ति होनेपर ही दूर होना संभव है।

यह सब जानते ही हैं कि, भारतवर्ष में जो कागज निर्माण हो रहा है, उस में प्रति शतक ९० कागज सरकार ले रही है। शेष १० प्रति शतक रहता है, उस में सब प्रेस भुगते जाते हैं। जहां हमें हजार रीम कागज चाहिये, वहां दस रीम भी मिलते नहीं। इस कारण देरी लग रही है। यह वारंवार हम लिखते आये हैं, परन्तु ग्राहक उस लेख की ओर देखते नहीं और पूछते रहते हैं कि, "ग्रन्थ छप चुका या नहीं, देरी क्यों हो रही है, कब छपकर तैयार होगा?" प्रत्येक प्रश्न का उत्तर हम देते नहीं, इसलिये भी ग्राहक क्रोध करते हैं, पर इन प्रश्नों का एक ही उत्तर है और वह यह है कि, 'कागजका अभाव।'

काठक-संहिता।

काठक संहिता यजुर्वेद की भी छप चुकी है। केवल इसकी मन्त्रसूची छपनी है। शेष सब तैयार हो चुकी है। काठक संहिता यजुर्वेद की संहिता है और यह ग्रंथ यजुर्वेद के विचारकोंके लिये अमूल्य तथा अति उपयोगी ग्रंथ है।

दैवत-संहिता द्वितीय विभाग।

दैवत-संहिता का प्रथम भाग साढेसात हजार मंत्रों का छप कर प्रकाशित हो चुका है। यह ग्रन्थ ग्राहकों के पास पहुंच चुका है। इसलिये द्वितीय विभाग की मांग हो रही है। ग्राहक शीघ्रातिशीघ्र द्वितीय विभाग चाहते हैं। यह ग्राहकों की उत्सुकता दैवत-संहिता के ग्रन्थ के महत्त्व की साक्षी दे रही है।

दैवतसंहिता का द्वितीय विभाग छप रहा है। इस में प्रथम देवता 'अश्विनौ' है। इस देवता के सब मंत्र छप चुके हैं। इस देवता की कुल मन्त्रसंख्या ६८९ है। इसकी सूचियाँ निम्नलिखित प्रकार छपी है= [१] पुनरुक्त-मन्त्र-सूची, [२] उपमासूची, [३] गुणबोधक पदसूची [विशेषणसूची], [४] अश्विनो रथः, [५] अश्विनोः अश्वाः, [६] अश्विनोः संचारः, [७] आवाहनकालः, [८] भिषक्कर्म, [९] सूर्याग्न्युषसां सम्बन्धः, [१०] अश्विनोर्मन्त्रेषु व्यक्तिनामानि, [११] अन्यदेवताः, [१२] अवनकर्म, [१३] अवनं, [१४] पीडानिवारणं, [१५] शत्रुहननं, [१६] आपन्निवारणं, [१७] भैष-ज्येन अवनं, [१८] प्राणिनां अवनं, [१९] अतिमानुषाणि कर्माणि, [२०] मन्त्रसूची आदि। इतनी सूचियां देनेके कारण यह मन्त्रसंग्रह अध्ययनशील पाठकों के लिये बडा उपयोगी बना है। इस की विस्तृत भूमिका भी पढने-योग्य हो गयी है।

दैवत--संहिता के इस द्वितीय विभाग में दूसरी देवता 'आयुर्वेदप्रकरण' रूप है, अर्थात् इस में आयुर्वेद-प्रकरण से सम्बन्धित अनेक देवताओं के अनेक प्रकरण आ गये हैं। इस आयुर्वेदप्रकरण में करीब करीब २३४५ मन्त्र छप चुके हैं और यहां वेदका आयुर्वेदप्रकरण समाप्त होता है। इस की सूचियां छपनी हैं। इस तरह करीब करीब तीनहजार मन्त्र दैवत-संहिता के द्वितीय विभाग के छप चुके हैं और आगे छपाई चल रही है।

वेदमुद्रण का कार्य चल रहा है। कठिनता अत्यन्त होनेपर भी बन्द नहीं हुआ है और बन्द नहीं किया जायगा। इसलिये यदि कुछ कठिनता के कारण थोडीसी देरी लगी, तो पाठक क्षमा करेंगे, ऐसी हमें आशा है।

रुद्रदेवता का स्वरूप।

(१)

पूर्व,दो लेखों में 'नारायण'* के स्वरूप का विचार किया और बताया कि, यह संपूर्ण विश्व नारायण का ही रूप है; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र अथवा ज्ञानी, शूर, किसान और कारीगर ये क्रमशः नारायण के सिर, बाहु, उदर और पांव हैं। इसी तरह आकाश, अन्तरिक्ष, पृथ्वी–अर्थात् आकाशस्थ सूर्य, अन्तरिक्षस्थ इन्द्र, चन्द्र, वायु, विद्युत्, तथा भूमिस्थानीय अग्नि, जल, औषधि आदि सब ये नारायण के सिर, पेट, और पांव हैं। सब स्थावर, जंगम सृष्टि का अन्तर्भाव इस नारायण के रूप में हुआ है। कोई वस्तु नारायण के स्वरूप से बाहर नहीं है।

नारायण नाम 'पुरुष, विष्णु, परमात्मा, आत्मा, ब्रह्म, परब्रह्म' आदि का है। अतः जो वर्णन नारायण का किया गया है, वह इन देवताओं का हुआ। इस में सन्देह नहीं कि, जो यह सब संसार है, वही विष्णु का स्वरूप है। यह त्याज्य नहीं, अपितु उपास्य है। यह हेय नहीं अपितु सम्माान्य है। यह सब वर्णन इसके पूर्व के लेखों में पाठकों के सम्मुख रखा गया है।

यदि यह वैदिक सत्य है और यदि परमात्मा ही विश्वरूप है, तब तो प्रायशः प्रत्येक देवता के वर्णन में यह सत्य प्रकट होना चाहिये, क्योंकि अनेक देवताओं के वर्णन के मिष से एक ही परमात्मा का वर्णन वेद में होता है, अतः यदि परमात्मा विश्वरूप है, तब तो यह वर्णन प्रत्येक देवता के वर्णन में आना चाहिये।

इस सत्य का पता लगाने के लिये ही हमने 'पुरुष-सूक्त' का विचार गत दो लेखोंमें किया। अब उसी उद्देश्य से हम रुद्रसूक्त का विचार इस लेख में करते हैं। यह रुद्र-सूक्त यजुर्वेद-संहिता में है। वाजसनेयी संहिता का १६ वां अध्याय, काण्वसंहिताका १७ वां अध्याय, मैत्रायणी संहिता का काण्ड २, प्रपाठक ९; काठक संहिता का १७,१३-१४; कपिष्ठल कठ संहिता का २७,३-४; तैत्तिरीयसंहिता का कां० ४।५।४-५ रुद्रदेवता के वर्णन के लिये ही प्रसिद्ध हैं। जो सूक्त हम यहां आज विचार करने के लिये लेना चाहते हैं, वह इतनी संहिताओं में प्रमाणत्वेन विद्यमान है। इस अध्याय में रुद्रदेवता का बडा विस्तृत वर्णन है। पुरुषसूक्त-में संक्षेप से वर्णन है, वही वर्णन इस रुद्रसूक्त में बहुत विस्तृत है। अतः पाठक अब इस का विचार करें और देखें कि, इस रुद्राध्याय में रुद्र के स्वरूप का कैसा वर्णन किया है और इस सूक्त के विचार से रुद्रदेवता का स्वरूप कौनसा सिद्ध होता है। सबसे प्रथम इस सूक्तका आवश्यक भाग हम नीचे देते हैं—

रुद्रसूक्त (वा० य० अ० १६)

नमो हिरण्यबाहवे सेनान्ये, दिशां च पतये नमः,
नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः, पशूनां पतये नमः,
नमः शष्पिञ्जराय त्विषीमते, पथीनां पतये नमः,
नमो हरिकेशाय उपवीतिने, पुष्टानां पतये नमः, ॥ १७ ॥

नमो बभ्लुशाय व्याधिने, अन्नानां पतये नमः,
नमो भवस्य हेत्यै, जगतां पतये नमः,
नमो रुद्राय आततायिने, क्षेत्राणां पतये नमः,
नमः सूताय अहन्त्यै, वनानां पतये नमः ॥ १८ ॥

नमो रोहिताय स्थपतये, वृक्षाणां पतये नमः,
नमो भुवन्तये वारिवस्कृताय, ओषधीनां पतये नमः,
नमो मन्त्रिणे वाणिजाय, कक्षाणां पतये नमः,
नमः उच्चैर्घोषाय आक्रन्दयते, पत्तीनां पतये नमः ॥ १९ ॥

नमः कृत्स्नायतया धावते, सत्वनां पतये नमः,
नमः सहमानाय निव्याधिने, आव्याधिनीनां पतये नमः,

---

* इस लेखमालाका ८ वाँ लेख 'वैदिक धर्म' क्रमाङ्क २८०, पृ० ७७ पर 'नारायण की उपासना' नाम से छपा है।

नमो निषङ्गिणे ककुभाय, स्तेनानां पतये नमः,
नमो निचेरवे परिचराय, अरण्यानां पतये नमः ॥ २० ॥

नमो वञ्चते परिवञ्चते, स्तायूनां पतये नमः,
नमो निषङ्गिण इषुधिमते, तस्कराणां पतये नमः,
नमः सृकाविभ्यो जिघांसद्भ्यः, मुष्णतां पतये नमः,
नमोऽसिमद्भ्यो नक्तंचरद्भ्यः, विकृन्तानां पतये नमः ॥ २१ ॥

नम उष्णीषिणे गिरिचराय, कुलुञ्चानां पतये नमः,
नम इषुमद्भ्यो, धन्वाविभ्यश्च वो नमः,
नम आतन्वानेभ्यः, प्रतिदधानेभ्यश्च वो नमः,
नम आयच्छद्भ्यो,-ऽस्यद्भ्यश्च वो नमः ॥ २२ ॥
नमो विसृजद्भ्यो, विध्यद्भ्यश्च वो नमः,
नमः स्वपद्भ्यो जाग्रद्भ्यश्च वो नमः,
नमः शयानेभ्यः, आसीनेभ्यश्च वो नमः,
नमस्तिष्ठद्भ्यो, धावद्भ्यश्च वो नमः ॥ २३ ॥

नमः सभाभ्यः, सभापतिभ्यश्च वो नमः,
नमो अश्वेभ्यो, अश्वपतिभ्यश्च वो नमः
नम आव्याधिनीभ्यो, विविध्यन्तीभ्यश्च वो नमः,
नम उगणाभ्यः, तृंहतीभ्यश्च वो नमः ॥ २४ ॥
नमो गणेभ्यो, गणपतिभ्यश्च वो नमः,
नमो व्रातेभ्यो, व्रातपतिभ्यश्च वो नमः,
नमो गृत्सेभ्यो, गृत्सपतिभ्यश्च वो नमः,
नमो विरूपेभ्यो, विश्वरूपेभ्यश्च वो नमः, ॥ २५ ॥

नमः सेनाभ्यः, सेनानिभ्यश्च वो नमः,
नमो रथिभ्यो, अरथेभ्यश्च वो नमः,
नमः क्षत्तृभ्यः, संग्रहीतृभ्यश्च वो नमः,
नमो महद्भ्यो, अर्भकेभ्यश्च वो नमः, ॥ २६ ॥
नमस्तक्षभ्यो, रथकारेभ्यश्च वो नमः,
नमः कुलालेभ्यः, कर्मारेभ्यश्च वो नमः,
नमो निषादेभ्यः, पुञ्जिष्ठेभ्यश्च वो नमः,
नमः श्वनिभ्यो, मृगयुभ्यश्च वो नमः, ॥ २७ ॥
नमः श्वभ्यः, श्वपतिभ्यश्च वो नमः,
नमो भवाय च, रुद्राय च, नमः शर्वाय, च पशुपतये च,
नमो नीलग्रीवाय च, शितिकण्ठाय च ॥ २८ ॥
नमः कपर्दिने च व्युप्तकेशाय च,
नमः सहस्राक्षाय च, शतधन्वने च,
नमो गिरिशयाय च, शिपिविष्टाय च,
नमो मीढुष्टमाय च, इषुमते च ॥ २९ ॥

नमो ह्रस्वाय च, वामनाय च, नमो बृहते च, वर्षीयसे च,
नमो वृद्धाय च, सवृधे च, नमो अग्र्याय च, प्रथमाय च ॥ ३० ॥

नम आशवे च, अजिराय च, नमः शीघ्र्याय च, शीभ्याय च,
नम ऊर्म्याय च, अवस्वन्याय च,
नमो नादेयाय च, द्वीप्याय च ॥ ३१ ॥

नमो ज्येष्ठाय च, कनिष्ठाय च, नमः पूर्वजाय च, अपरजाय च,
नमो मध्यमाय च, अपगल्भाय च,
नमो जघन्याय च बुध्न्याय च ॥ ३२ ॥

नमः सोभ्याय च, प्रतिसर्याय च,
नमो याम्याय च, क्षेम्याय च,
नमः श्लोक्याय च, अवसान्याय च,
नम उर्वर्याय च, खल्याय च ॥ ३३ ॥

नमो वन्याय च, कक्ष्याय च,
नमः श्रवाय च, प्रतिश्रवाय च,
नम आशुषेणाय च, आशुरथाय च,
नमः शूराय च, अवभेदिने च ॥ ३४ ॥

नमो बिल्मिने च, कवचिने च,
नमो वर्मिणे च, वरूथिने च,
नमः श्रुताय च, श्रुतसेनाय च,
नमो दुन्दुभ्याय च, आहनन्याय च ॥ ३५ ॥

नमो धृष्णवे च, प्रमृशाय च,
नमो निषङ्गिणे च, इषुधिमते च,
नमस्तीक्ष्णेषवे च, आयुधिने च,
नमः स्वायुधाय च, सुधन्वने च, ॥ ३६ ॥
नमः स्रुत्याय च, पथ्याय च,
नमः काट्याय च, नीप्याय च,
नमः कुल्याय च, सरस्याय च,
नमो नादेयाय च, वैशन्ताय च ॥ ३७ ॥

नमः कूप्याय च, अवट्याय च,
नमो वीध्र्याय च, आतप्याय च,
नमो मेघ्याय च, विद्युत्याय च,
नमो वर्ष्याय च, अवर्ष्याय च, ॥ ३८ ॥

नमो वात्याय च, रेष्म्याय च,
नमो वास्तव्याय च, वास्तुपाय च,
नमः सोमाय च, रुद्राय च,
नमस्ताम्राय च, अरुणाय च, ॥ ३९ ॥

नमः शङ्गवे च, पशुपतये च,
नम उग्राय च, भीमाय च,
नमो अग्रेवधाय च, दूरेवधाय च,
नमो हन्त्रे च, हनीयसे च,
नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यो, नमस्ताराय, ॥ ४० ॥

नमः शंभवाय च, मयोभवाय च,
नमः शङ्कराय च, मयस्कराय च,
नमः शिवाय च, शिवतराय च ॥ ४१ ॥

नमः पार्याय च, अवार्याय च,
नमः प्रतरणाय च, उत्तरणाय च,
नमस्तीर्थ्याय च, कूल्याय च,
नमः शष्प्याय च, फेन्याय च, ॥ ४२ ॥

नमः सिकत्याय च, प्रवाह्याय च,
नमः किंशिलाय च, क्षयणाय च,
नमः कपर्दिने च, पुलस्तये च,
नम इरिण्याय च, प्रपथ्याय च, ॥ ४३ ॥

नमो व्रज्याय च, गोष्ठ्याय च,
नमस्तल्प्याय च गेह्याय च,
नमो हृदय्याय च, निवेष्प्याय च,
नमः काट्याय च, गह्वरेष्ठाय च ॥ ४४ ॥

नमः शुष्क्याय च, हरित्याय च,
नमः पांसव्याय च, रजस्याय च,
नमो लोप्याय च, उलप्याय च,
नम ऊर्व्याय च, सूर्म्याय च ॥ ४५ ॥

नमः पर्णाय च, पर्णशदाय च,
नम उद्गुरमाणाय च, अभिघ्नते च,
नम आखिदते च, प्रखिदते च,
नम इषुकृद्भ्यो, धनुष्कृद्भ्यश्च वो नमः,
नमो वः किरिकेभ्यो, देवानां हृदयेभ्यः,
नमो विचिन्वत्केभ्यो, नमो विक्षिणत्केभ्यः
नम आनिर्हतेभ्यः ॥ ४६ ॥

असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम्।
तेषां सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ५४ ॥
(वा० यजु० अ० १६)

यहां कई रुद्रों के नाम गिनाये हैं। इन मन्त्रों में नाम ही नाम गिनाये हैं, इसलिये इन मंत्रों का पदशः अर्थ करने की आवश्यकता नहीं है। इन नामों के हम नीचे वर्ग करके बता देते हैं, जिन से पाठकों को पता लगेगा कि, ये सब रुद्र किन किन वर्गों में संमिलित होनेयोग्य हैं। इन में से जो मानवों में संमिलित होनेयोग्य हैं, उन के वर्ग ये हैं–

मानवरूपों में रुद्र।

(ज्ञानी पुरुष।)

पूर्वोक्त मन्त्रों में जो ज्ञानी वर्ग के रुद्र हैं, उनकी नामावलि यह है। ज्ञानी वर्गके रुद्रोंको ब्राह्मणवर्ग के रुद्र कहा जा सकता है।

१. गृत्स = ज्ञानी, कवि, एक ऋषि [२५]
२. गृत्सपति = ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ, गृत्सों का अधिष्ठाता [२५]
३. श्रुत = विख्यात, प्रसिद्ध, विद्वान्, श्रुति का वेत्ता [१५]
४. पुलस्ति = विद्वान्, ऋषि [४३]
५. रुद्र = [रु] शब्द शास्त्र का [द्र] पारंगत, ज्ञानी [१८]
६. उद्गुरमाण = उत्तम ज्ञानका उपदेश देनेवाला, वक्ता [४६]
७. अधिवक्ता = [वा० य० १६।५] = उपदेशक, अध्यापक, वक्ता।
८. मंत्री = राजा का मन्त्री, दिवान, सलाहगार, सुविचारी, बुद्धिमान, चतुर, हित की मंत्रणा देनेवाला [१९]
९. देवानां हृदयः = देवताओंके लिये जिसने अपना हृदय दिया है, भक्त, प्रेमी, साधु, सज्जनों की सेवा करनेवाला [४६]
१०. भिषक्, दैव्यो भिषक् = दिव्य वैद्य [वा० य० १६।५], आयुर्दुष [६०] आयुष्य की वृद्धि करनेवाला।

११. औषधीनां पतिः = औषधियां अपने पास रखनेवाला [१९]

१२. सभा = सभा, परिषद्, विविध सभाओं के सभासद [२४]

१३. सभापति = सभा का अध्यक्ष, परिषद् का प्रमुख [२४]

१४. श्रवः = कान, सुननेवाला, श्रवण करनेवाला, शिष्य [३४] प्रमृशः = परामर्श लेनेवाले पंडित [३६]

१५. प्रतिश्रवः = सुनानेवाला, उपदेश करनेवाला, गुरु [३४]। वादी-प्रतिवादी, प्रश्न-प्रतिप्रश्न, के समान श्रव-प्रतिश्रव ये पद हैं। इनका परस्पर-संबंध है। स्रोभ्यः [३३] = पुण्यकर्म करनेवाले तथा प्रतिसर्य [३३] = गुप्त बात प्रकट करनेवाले,

१६. श्लोक्य = प्रशंसनीय, श्लोकों के योग्य, प्रशंसनीय विद्वान्, [३३]

प्राचीन परंपराके अनुसार वैद्य, राजा का मंत्री, अध्यापक आदि ब्राह्मण अथवा ज्ञानी वर्गके लोग ही हुआ करते हैं। अर्थात् वे ब्राह्मण हैं अथवा ज्ञानी तो निःसन्देह हैं।

पुरुषसूक्त में ' ब्राह्मणों को नारायण का मुख ' कहा है। यहां इसी नारायण के अथवा रुद्रदेवता के मुख में किन का समावेश होता है, यह अधिक नाम देकर बताया है। यहां के कई नाम जैसे ' उग्रुरमाण ' आदि अन्य वर्गमें भी गिने जाना स्वाभाविक है। जो शेष बचेंगे, वे इस वर्ग में रहेंगे। इस तरह ब्राह्मणवर्ग के रुद्रों का विचार करने के पश्चात् अब क्षत्रियवर्ग के रुद्रों का, अथवा वीरों का विचार करते हैं। रुद्र का नाम ' वीरभद्र ' सुप्रसिद्ध है। कल्याण करनेवाला वीर ' वीरभद्र ' कहा जाता है। देखिये। वीरभद्रके वर्गमें कौनसे रुद्र गिने जाने योग्य हैं-

क्षत्रिय वर्ग के रुद्र।

(वीर रुद्र।)

(रोदयति इति रुद्रः) जो रुलाता है, वह रुद्र है। शत्रुओं को रुलाने के कारण वीर को रुद्र कहते हैं। इस तरह क्षत्रिय वीर रुद्र कहे जाते हैं।

१. रुद्रः = शत्रुओं को रुलानेवाला वीर [१,१८] तवस् = बलवान [४८] आगे राजाके अनेक अधिकारी, ओहदेदार, रुद्र करके गिनाये हैं।

२. क्षेत्राणां पतिः = खेतोंकी रक्षा करनेवाला [१८] भूतानां अधिपतिः = प्राणियों के रक्षक [५९]

३. वनानां पतिः = वनोंकी पालना करनेवाला [१८] वन्यः = वनमें उत्पन्न [३४]

४. अरण्यानां पतिः = अरण्यों का संरक्षण करनेवाला [२०]

५. स्थपतिः = स्थानोंका पालक [१९], पथिरक्षि [६०], प्रपथ्य [४३] = मार्गों की रक्षा करनेहारे।

६. कक्षाणां पतिः [१९], दिशां पतिः [१७] (कक्षा) = गुप्त स्थान, अन्तका भाग, बडा अरण्य, बहुत ही बडा वन। [कक्षाणां पतिः, कक्षापः] = गुप्त स्थान की रक्षा करनेवाला, अन्तिम विभाग का रक्षक, बडे अरण्योंका रक्षक [१९], कक्ष्यः = अरण्य की कक्षा में रहनेवाला [३४]

७. पत्तीनां पतिः = सेनाओं का पालक, सेनापति, पादचारी सेनाविभाग का अधिपति [१९] सत्वनां पतिः = प्राणियों का रक्षक [२०]

८. आव्याधिनीनां पतिः = उत्तम निशाना मारनेवाले सैनिकों का अधिपति, सेनापति [२०], [व्याधिन् =] शत्रु का वेध करनेवाला [२०,२४]

९. विकृन्तानां पतिः = शत्रुसेना को काटनेवाले वीर सैनिकों का अधिपति [२१]

१०. कुलुञ्चानां पतिः = शत्रुसेनाको पीसनेवाले, शत्रुपर चढाई करके उनके सेनाविभागों को पृथक् करके उनका नाश करनेवाले वीरोंके प्रमुख अधिपति [२२]

११. गणपतिः = वीरों के गणों के अधिपति [२५] ककुभः = प्रमुख, मुख्य [२०]

१२. व्रातपतिः = वीरों के समूह के प्रमुख [२५]

१३. सेना, १४ व्रातः, १५ गणः = ये सेनाविभागोंके नाम हैं; सैनिकों की संख्या के अनुसार ये नाम प्रयुक्त होते हैं [२५, २६]।

१६. शूर = वीर, शूर, [३४], क्षयद्वीरः = शत्रु का नाश करनेवाला वीर [४८], उग्रः, भीमः = उग्र, शूर वीर, भयानक कर्म करनेवाले [४०]

१७. विचिन्वत्कः = शूर वीर, बहादुर, चुनचुन कर शत्रुवीरों का वेध करनेवाला वीर [४८], विकिरिद्र = विशेष नाश करनेवाला [५२]

१८. रथी = रथ में बैठनेवाला वीर [२६]

१९. अरथी = रथ के विना युद्ध करने में प्रवीण वीर [२६]

२०. आशुरथः = जो त्वरा के साथ रथयुद्ध करता है, त्वरा से रथ चलानेवाला वीर [३४]

२१. वरणा = शस्त्रास्त्रों को ऊपर उठाकर शत्रुपर हमला करनेवाली सेना का समूह [२४]

२२ आशुसेनः = अपनी सेनाको अतिशीघ्र तैयार करनेवाला वीर, अपनी सेनाको सदा सिद्ध रखनेवाला वीर [३४]

२३. श्रुतसेनः = जिस सेना का यश चारों ओर फैला हो, विख्यात, यशस्वी, सदा विजयी सेनापति [३५]

२४. सेनानी = सेना को कुशलता के साथ चलानेवाला सेनापति [२६]

२५. दुंदुभ्य = नौबत, ढोल अथवा बाजे के साथ रहकर लडनेवाला सैन्य [३५]

२६. असिमान् = तलवार से लडनेवाले सैनिक वीर [२१]

२७ इषुमान् = बाणों का उपयोग करनेवाले, बाणों को बर्तनेवाले वीर [२२,२९]

२८ सृकायी = तीक्ष्ण बाण अथवा भाला बर्तनेवाला वीर [२१]

सृकाहस्ताः = शस्त्र धारण करनेवाले [६१]

२९. निषङ्गी = खड्गधारी वीर [२०,२१,३६]

३०. धन्वायी = धनुष्य धारण करके शत्रुपर चढाई करनेवाला वीर [२२]

३०. आयुधी = शस्त्रास्त्रों को साथ रखनेवाला वीर [३६]

३१. शतधन्वा = सौ धनुष्यों का धारण करनेवाला वीर [२९]

३२. इषुधिमान् = बाणों के तर्कस को पास रखनेवाला [२१,३६]

३३. तीक्ष्णेषु = तीखे बाणों का उपयोग करनेवाला [३६]

३४. स्वायुध = उत्तम आयुधों को पास रखनेवाला [३६]

३५. सुधन्वन् = उत्तम धनुष्य का उपयोग करनेवाला [३६]

३६-३९. वर्मी, कवची, बिल्मी, वरूथी = विविध प्रकार के कवच धारण करनेवाला वीर [३५]

४०. कृत्स्नायतया धावन् = आकर्ण धनुष्य पूर्णतया खींचकर युद्धभूमि में दौडनेवाला वीर [२०]

४१. निव्याधी [१८,२०] = शत्रु का निःशेष वेध करनेवाला वीर [२०]

४२. जिघांसत् = शत्रुकी कतल करनेवाला वीर [२१]

४३. विध्यत् = शत्रु का वेध करनेवाला [२१]

४४. अवभेदी = शत्रुको नीचे गिराकर उसको छिन्नभिन्न करनेवाला वीर [३४]

४५. हन्ता = शत्रु का हनन करनेवाला [४०]

४६. हनीयान् = शत्रु का संहार करनेवाला [४०]

४७. अभिघ्नत् = शत्रुपर प्रहार करनेवाला [४६]

४८. अग्रेवधः = अग्रभाग में रहकर शत्रु का वध करनेवाला [४०]

४९. दूरेवधः = दूरसे शत्रुका वध करनेवाला [४०]

५०. आहनन्य = शत्रुपर आघात करनेवाला [३५]. ढोलका शब्द करता हुआ शत्रुपर आक्रमण करनेवाला।

५१. धृष्णुः = शत्रु का वध करनेवाला साहसी वीर [१४,३४]

५२. विक्षिणत्क = शत्रु का नाश करनेवाला [४६]

५३. आनिर्हत = आसमन्तात् भाग से जिसने शत्रु का वध किया है [४६]

५४. सहमानः = शत्रुका पराभव करनेवाला [२०]

५५. आतन्वानः = धनुष्य की प्रत्यंचा चढानेवाला वीर [२२]

५६. प्रतिदधानः = प्रत्यंचा चढाके धनुष्यपर बाण लगानेवाला [२२]

५७. आतन्वानत् = धनुष्य की डोरी खींचनेवाला वीर [२२]

५८. अस्यत् = शत्रुपर बाण फेंकनेवाला [२२]

५९. विसृजत् = शत्रुपर विशेष रूप से बाण फेंकनेवाला [२२]

६०-६१ आखिदत्, प्रखिदत् = शत्रु को खेद उत्पन्न करने योग्य आचरण करनेवाला वीर [४६]

६२-६३ आव्याधिनी [२४], आव्याधिनीनां पतिः [२०] = शत्रुसेनापर चारों ओर से हमला करनेवाला वीर, तथा ऐसी वीरसेना का सेनापति।

६४. विविध्यन्ती = विशेष रीतिसे शत्रुसेना का वेध करनेवाली प्रबल वीरसेना [२४]

६५. तृंहती = शत्रु का नाश करनेवाली वीर सेना [२४]

६५. अपगल्भ्यः = अन्तिम भाग पर खडा रहकर संरक्षण करनेवाला वीर [३३]

६६. पथीनां पतिः = मार्गस्थोंके रक्षक वीर [१७]

६७. मृगयु = मृगया, अथवा शिकार करनेवाला वीर [२७]

ये वीरवर्ग अथवा क्षत्रियवर्ग के नाम हैं। रुद्रोंके ही ये नाम हैं, जैसे ब्राह्मणवर्गके रुद्र पीछे दिये हैं, वैसे ही ये क्षत्रियवर्गके रुद्र हैं। जिस तरह ब्राह्मण जैसे रुद्र हैं, वैसे ही क्षत्रिय भी रुद्र हैं। अब वैश्यवर्ग के रुद्र देखिये। वैश्यवर्ग में खेती और पशुपालन करनेवालोंका समावेश होता है, अतः उक्त मन्त्रों में वैश्यरुद्रों का वर्णन देखिये—

वैश्यवर्ग के रुद्र।

वैश्यवर्ग में निम्नलिखित रुद्रों का अन्तर्भाव हो सकता है—

१. वाणिजः = बनिया, ब्योपारी, दूकानदारी करनेवाला [१९]

२. संग्रहीता = पदार्थों का संग्रह करनेवाला [२६]

वारिवस्कृत् [१९] धन की उत्पत्ति करनेवाला

३-४ अन्धसस्पतिः [४७], अन्नानां पतिः [१८] = अन्न का पालनकर्ता, अन्न के लिये उपयोगी होनेवाले विविध धान्यादि पदार्थों का पालन करनेवाला, [४७, १८] पुष्टवृद्धः [१०] = अन्नकी वृद्धि करनेवाला।

५. वृक्षाणां पतिः = वृक्षवनस्पति आदिकों की पालना करनेवाला [१९]

६-७. पशुपतिः, [२८] पशूनां पतिः [१७] = पशुओं का पालनेवाला।

८. अश्वपतिः = घोडों की पालना करनेवाला [२४]

९-१० श्वपतिः [२८], श्वनी [२७] = कुत्तोंकी पालना करनेवाला।

११. पुष्टानां पतिः = पुष्टों के स्वामी [१७]

१२. जगतां पतिः = चलनेवालों का पालक [१८]

वैश्यों का कर्तव्य खेती, वृक्षसंवर्धन और पशुपालन है। यह कर्म करनेवाले ये रुद्र हम रुद्रसूक्त में देखते हैं, इस तरह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्गों के रुद्रों का वर्णन हमने यहां तक देखा। शूद्रवर्ग के रुद्रों का वर्णन अब देखना है। शूद्रों में सब कारीगरों का समावेश होता है। देखिये—

शिल्पिवर्ग के रुद्र।

पूर्वोक्त मंत्रोंमें निम्नलिखित रुद्र शिल्पिवर्गके आ गये हैं—

१. सूत = सारथी, रथ चलानेवाला, घोडोंको शिक्षा देनेवाला, भाट और वीरों की कथाओं को सुनानेवाला।

२-४. क्षत्ता [२६], तक्षा [२७], रथकारः [२७] = बढई, तर्खाण, रथ बनानेवाला, लकडी का काम करनेवाला [२६]

५-६. धनुष्कृत्, इषुकृत् = धनुष्य और बाण बनानेवाला कारीगर [४६]

७ कर्मारः = लुहार, लोहे का अथवा धातु का कार्य करनेवाला [२७]

८. कुलालः = कुम्हार [२७]

९. निषादः = जंगल में रहनेवाला, जंगली आदमी, सभा में [नि-षाद] सबसे नीचे बैठनेयोग्य [२७]

१०. पुंजि-ष्ठ = टोलियां बनाकर रहनेवाले लोग [२७]

११. गिरि-चरः [२२] गिरिशयः [२९] गिरि-शन्त [१] पहाडियोंपर घूमनेवाला, पहाडी लोग।

१२. उत्तरण, प्रतरण, तार = नदी के पार करानेवाला, नदीपार कराने में कुशल [४२]

१३. अहन्त्यः सूतः = हननसे बचानेवाला सूत [१८]

ये नाम प्रायः कारीगरों के तथा अन्यान्य व्यवहार करनेवालों के वाचक हैं। अर्थात् शूद्रों के वाचक हैं। शूद्रों में जो कारीगरी कर नहीं सकते, वे परिचर्या, सेवा शुश्रूषा करके अपनी आजीविका करते हैं, उनके नाम उपर्युक्त रुद्रमंत्रों में ये हैं—

१४. परि-चरः = परिचारक, नौकर, सेवक, परिचर्या करनेवाले [२२]

१५. नि-वेष्टः = नौकरी करनेवाला, नीचे के स्थानमें रहनेयोग्य [२०]

१६. जघन्यः = हीन, अन्त्यज, नीच वृत्तिका मनुष्य, अधःपतित मनुष्य [३२]

ये नाम शूद्रवर्ग के हैं। इन में 'परिचर' नाम परिचर्या करनेवाले का स्पष्ट है। लुहार बढई आदि के नाम भी सब को मालूम हैं। शूद्रों में दो भेद हैं, एक सच्छूद्र कहलाते हैं, जो कारीगरीके द्वारा अपनी आजीविका प्राप्त करके निर्वाह करते हैं और दूसरे असच्छूद्र हैं, जो सेवा करके आजीविका प्राप्त करते हैं। इन दोनों प्रकारके शूद्रों का वर्णन पूर्वोक्त शब्दोंद्वारा हुआ है।

यहां तक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णोंके अर्थात् ज्ञानी, शूर, व्यापारी और कारीगर इन चार प्रकार के व्यवसायियों के नाम रुद्र के नामों में दीखते हैं। ये सब रुद्र के रूप हैं। रुद्रदेवता इन रूपों में इस भूमिपर विचर रहा है। रुद्रदेवता की भेट करनी हो, तो इन रूपों में रुद्र का दर्शन हो सकता है। रुद्र इन नाना रूपों में इस भूमिपर विचर रहा है। रुद्रदेवता के भक्त अपनी उपास्य देवता का दर्शन करें। वेद ने रुद्रदेवता का इस तरह प्रत्यक्ष साक्षात्कार कराया है। पाठक इस का स्वीकार करें।

पाठक यह जानते हैं कि, 'रुद्र' उसी एक अद्वितीय देव का नाम है, *जिस को 'पुरुष, नारायण, अग्नि, इन्द्र'* आदि अनेक नाम दिये गये हैं। पुरुष और नारायण का रूप हमने इस लेखमाला के पूर्व लेखों [संख्या ७ और ८] में देख लिया है।'

ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीद्
बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः
पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ [ऋ० १०।९०।१२]

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णोंके लोग ये सब परमात्माके क्रमशः सिर, बाहू, पेट या जंघा तथा पांव हैं। अर्थात् चारों वर्ण मिलकर परमात्मा का शरीर है। परमात्मा के शरीरके ये चार अवयव हैं। इस परमात्मा को आत्मा, ब्रह्म, पुरुष, नारायण या रुद्र आदि नामों से पुकारते हैं। रुद्र और नारायण एक ही देव है। एक ही देवताके ये दो नाम हैं। इसलिये जो वर्णन नारायणपुरुष का पुरुषसूक्त में हुआ है, वही वर्णन रुद्र का विस्तार से रुद्रसूक्त में दिखाई दिया, तो वह उचित ही है।

यहां पाठक देखें कि, पुरुषसूक्त में जो वर्णन अतिसंक्षेप से है, वही वर्णन रुद्रसूक्त में विस्तार से है। पुरुषसूक्त में पुरुष नारायण देवता के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये लोग अवयव हैं, ऐसा कहा है और रुद्रसूक्त में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्गों के कई नाम गिनाये हैं। अर्थात् पुरुषसूक्त का यह विस्तार से स्पष्टीकरण है। इस रुद्रसूक्तमें ये रुद्र के रूप हैं, ऐसा कहा है; और इन रुद्र को नमस्कार किया है। ये उपास्य और संसेव्य हैं ऐसा यहां बताया है।

मानवों को जो परमात्मा संसेव्य है वह ज्ञानी, शूर, व्यापारी और सेवकरूप से इस भूमिपर विचरनेवाला ही परमात्मा है। यह बात इस रुद्रसूक्त के मनन से सिद्ध हो रही है। परमात्मा सब रूपों में इस भूमि पर विचर रहा है, इन में मानवों के रूप भी हैं। हमें परमात्मा की सेवा करके कृतकृत्य बनना है, तो हमें इन मानवों की—जनता-रूपी जनार्दन की सेवा करना उचित है। वेदका यही धर्म है, पर आज मानवों की सेवा अपनी कृतकृत्यता के लिये करने का भाव समाज से दूर हुआ है और अन्यान्य उपासनाएं प्रचलित हुई हैं!! आज मूर्ति के मंदिरों के लिये करोडों रुपयों का व्यय हो रहा है, पर मानवों की उन्नति के लिये उनमें से कितना व्यय हो रहा है। वैदिक धर्म से जनता कितनी दूर जा रही है, इसका विचार यहां इस विवेक से हो सकता है।

चार वर्णों के रुद्र।

चार वर्णों के चार वर्गों में जो रुद्र होते हैं, उन की गणना ऊपर के लेख में की है, परन्तु यहां ब्राह्मण-क्षत्रिय-

वैश्य-शूद्र ये नाम नहीं आये हैं। इसलिये पाठकोंके मनमें सन्देह हो सकता है कि, ये नाम चार वर्णों के कैसे माने जायेंगे। इस शंकाका निवारण यजुर्वेदकी मैत्रायणी संहिता में किया है, वह मन्त्रभाग अब देखिये—

नमो ब्राह्मणेभ्यो राजन्येभ्यश्च वो नमः।
नमः सूतेभ्यो विश्येभ्यश्च वो नमः॥

[मैत्रायणी सं० २।९।५]

'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और सूत संज्ञक रुद्रों को मैं प्रणाम करता हूं।' यहां शूद्र नाम नहीं है, पर 'सूत' नाम है, जो शूद्र का वाचक है, अन्य तीन नाम हैं। इस से सिद्ध होता है कि, चारों वर्णों के लोग रुद्रदेवता के रूप हैं। इसलिये इस विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है।

पूर्वोक्त चार वर्णों के रुद्रों में ही संपूर्ण जनता समाप्त नहीं होती है। जिनको दुष्ट, डाकू आदि कहा जाता है, उन रूपों में भी रुद्रदेवता हमारे सम्मुख उपस्थित होती है। देखिये—

आततायी वर्ग के रुद्र।

१. आततायी = घातपातवाला करनेवाला [१८] शस्त्र सज्ज करके हमला करनेवाला घातक।

२-५ स्तेनानां पतिः २०], तस्कराणां पतिः [२१], मुष्णतां पतिः [२१], स्तायूनां पतिः [२१] = चोर, डाकू, लुटेरे, ठगानेवाले।

६-८ वञ्चन् [२१], परिवञ्चन् [२१], = धोखेबाज, फरेबी, मक्कार, कपटी, छल करनेवाला,

९. लोप्य = नियमों का लोप करनेवाला, नियमों का उल्लंघन करनेवाला [४५]

१०. नक्तंचरत् = रात्री के समय दुष्ट इच्छा से भ्रमण करनेवाला [२१]

ये नाम चोर, डाकू, लुटेरे, आततायी दुष्टों के हैं। निःसन्देह ये दुष्ट भाववाले मानवों के वाचक हैं। परन्तु ये भी रुद्र के ही रूप हैं। जिस तरह ज्ञानदाता ब्राह्मण, सब के पालन करनेवाले क्षत्रिय, सब के पोषणकर्ता वैश्य और सबकी सहायतार्थ कर्म करनेवाले शूद्र रुद्रके रूप हैं, उसी तरह चोरी करके लोगों को लूटनेवाले भी रुद्र के ही रूप हैं।

पाठकों को यह मानने के लिये बड़ा कठिन कार्य है। चोर भी परमात्मा का अंश है। क्या यह सत्य नहीं है? भगवद्गीता में कहा है कि—

मम एव अंशः जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

[भ. गी. १५।७]

मेरा सनातन एक अंश जीवलोक में जीव होता है। यदि मानवों का जीव परमात्मा का अंश है, तब तो वह जैसा ज्ञानी योगियों का जीव परमात्मा का अंश है, वैसा ही दुष्ट डाकुओं का भी जीव परमात्मा का ही अंश है। जीवमात्र परमात्मा का अंश है। यह जैसा भगवद्गीता में कहा है, वैसा ही वेद में- पुरुषसूक्त में भी कहा है। पुरुष का एक अंश इस विश्व में वारंवार जन्मता है, यह बात पुरुषसूक्त में कही है। अस्तु, इस तरह चार वर्णोंके मानवों का जीव जैसा परमात्मा का अंश है, वैसा ही चोर, डाकू, लुटेरे दुष्टों का जीव भी परमात्मा का ही अंश है। तत्वतः सब की एकता है।

इसी तरह आंख में सूर्य का अंश, जिह्वा में जल का अंश, नासिका में पृथ्वी का अंश और अन्यान्य इंद्रियों में और अवयवों में अन्यान्य देवताओं के अंश आकर बसे हैं। वे जैसे सत्पुरुष के देह में बसे हैं, वैसे ही दुष्ट दुर्जनोंके देहों में भी बसे हैं। देवताओं के अंशों के निवास की दृष्टि से भी सब मानवों की, सब प्राणियों की समता है। इस रीति से ३३ देवताओं के अंश और परमात्मा का अंश शरीर में आकर रहे हैं, इस दृष्टि से सब के देह समान हैं। प्रत्येक देह में ३३ देवताओं के अंशों के साथ परमात्मा का अंश रहता है। देह सज्जन का हो या दुर्जन का, उसमें परमात्माके अंशके साथ सब देवताओं के अंश रहतेही हैं।

अतः वेद का कथन यह है कि, जिस तरह चार वर्णों में विद्यमान जनता सेव्य है, इसी तरह चोर, डाकू आदि भी वैसे ही संसेव्य हैं। पर सज्जनों की अपेक्षा दुर्जनों की सेवा अधिक प्रेमसे करनी चाहिये, क्योंकि इन दुष्ट मानवों की दुष्टता उन के शारीरिक और मानसिक विकृति के कारण होती है।

सेवा उसकी करनी चाहिये, जिसके लिये सेवा की आवश्यकता है। जैसा किसीको सर्दी लगती हो, तो उस को कंबल देना चाहिये, प्यासे को जल, भूखे को अन्न,

रोगीको दवा आदि देना सेवा है। जो तृप्त है, उसको अन्न देना सेवा नहीं है। सर्वत्र न्यूनता, हीनता, विकृतता की पूर्तिके लिये ही सेवा हुआ करती है। रोगी की सेवा, शुश्रूषा उस में उत्पन्न विकार अथवा न्यूनता को दूर करने के लिये की जानी चाहिये। इसी तरह चोर, डाकू, आततायी, लुटेरे, ठग, कपटी आदि जो गुनहगार हैं, वे यकृत, प्लीहा या मस्तिष्क की विकृतिके कारण अथवा सामाजिक, आर्थिक या राजकीय दोषों के कारण वे गुनाह करने के लिये प्रवृत्त होते हैं। देखिये यकृत बिगडने से मस्तिष्क बिगडता है और क्रोधी प्रकृति बनती है, जिसका परिणाम खून करनेतक होता है। दरिद्रता के कारण त्रस्त हुआ मनुष्य चोरी की ओर झुकता है। इसी तरह अन्यान्य कुप्रवृत्तियों के कारण शारीरिक, मानसिक आर्थिक, सामाजिक अथवा राजकीय विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं। इसलिये जैसे ज्वरके रोगी चिकित्साद्वारा संसेव्य हैं, उसी तरह चोर, डाकू, खूनी आततायी भी शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, सामाजिक अथवा राजकीय चिकित्सा से सेवा करनेयोग्य हैं।

आजकल इन चोर, डाकू आदिकोंको जेलखाने में बंद करते हैं, कोडों से मारते हैं अथवा खूनियों को फांसी देते हैं। पर वेद कहता है कि, वे भी वैसे ही रुद्र के अवतार हैं, जैसे उत्तम ब्राह्मण और श्रेष्ठ क्षत्रिय। अतः वे भी सेवा के योग्य हैं। उन की सेवा करके जिन दोषोंके कारण उन में कुप्रवृत्तियां उठीं, उनको दूर करके उनकी तनदुरुस्ती अथवा मनदुरुस्ती करनी चाहिये। सदैक्यवाद की भूमिका के अनुकूल और वेद के द्वारा कथित उपदेश के अनुसार चोर भी ईश्वर का रूप है और वह भी सज्जन के समान ही सेवा के योग्य है। यदि ठीक तरह इस ईश्वरके रूपकी सेवा होगी, तो जो उस ईश्वर के रूपमें अप्रसन्नता थी, वहां सुप्रसन्नता होगी और वे ही लोग समाज में प्रसन्नता बढायेंगे। सदैक्यवाद से अर्थात् वैदिक दृष्टीकोन धारण करने से इस तरह चोर और डाकू भी दिव्य भाव प्रकाशन का अवसर मिलने से देवत्व को प्रकट कर सकते हैं। सेवा तो अप्रसन्न की प्रसन्नता करने के लिये ही की जाती है। इस विषय में अधिक आगे लिखा जायगा। यहां किंचित् दिग्दर्शनमात्र लिखना पर्याप्त है।

यहांतक मानवी प्राणियों के रुद्र के रूपों का वर्णन हुआ, अब अन्य प्राणियों के रूपों में जो रुद्र का अवतरण हुआ है, उस विषय में देखिये—

प्राणियों में रुद्र के रूप।

१ अश्वः = घोडा [२४]

२ श्वा = कुत्ता [२८]

३ व्रज्यः = व्रज अर्थात् ग्वालोंके वाडोंमें पालनेयोग्य गौ आदि पशु [४४]

४ गोष्ठ्यः = गोशाला में पालनेयोग्य गौ आदि पशु [४४]

५ शीभ्यः = बैल आदि गतिमान पशु [३१]

६ गेह्यः = घरों में पालनेयोग्य पशु अर्थात् गाय, भैंस, बैल, कुत्ता, बिल्ली आदि पशु [४४]

७ किरिकः = किरि = सूवर, सूकर [४६]

८ तल्प्य = बिछोना, चारपाई, खटिया, तकिया आदि में जो कृमिकीट होते हैं, जिन को खटमल आदि नाम हैं, वे क्रिमी [४४]

९ रेष्म्यः = हिंसक क्रिमिकिट अथवा जीव [३९]

१० गह्वरेष्ठः = वन जंगलों में, पहाडों की गुफा में रहनेवाले सिंह, व्याघ्र आदि पशु [४४], गुहा में रहनेवाले मनुष्य।

११ इरिण्यः = उजाड मैदान में, रेतीले स्थानमें, जो भूमि उपजाऊ नहीं है, वैसी भूमि में रहनेवाले, प्राणी अथवा कृमि [४३]

१२ सिकत्यः = रेतीले स्थान में रहनेवाले पशु अथवा कृमिकीट [४३]

१३ किंशिलः = पत्थरोंवाले स्थान में रहनेवाले पशु अथवा जीव [४३]

१४-१५ पांसव्यः, रजस्यः = धूली में रहनेवाले जीवजन्तु [४५]

१६-१७ उर्व्यः [४५], उर्वर्यः [३३], = उपजाऊ भूमिमें रहनेवाले जीव।

१८ खल्यः = खलियान में जो जीव रहते हैं [३१]

१९ सूर्व्यः = [सु-उर्व्यः] उत्तम उपजाऊ भूमि में होनेवाला जीव [४५]

२०-२१ शुष्क्यः [४५], अवर्ष्यः [३८], = शुष्क

स्थान में, वर्षा न होनेवाली भूमिमें होनेवाले जीवजन्तु ।

२२-२३ हरित्यः [४५], वर्ष्यः [३८] = हरेभरे स्थान में रहनेवाले, वर्षाके स्थान में होनेवाले जीवजन्तु ।

२४ अवटय. = छोटे तालाबमें रहनेवाले जीव [३८]

२५ उलप्यः = घास जहां उगता है, ऐसे स्थान में होनेवाले कृमि [४५]

२६ शष्प्यः = कोमल घासके ऊपर रहनेवाले कृमि [४२]

२७-२८ पर्ण्यः, पर्णशद्यः = पत्तोंपर रहनेवाले जीव-जन्तु [४६]

२९-३० पथ्यः [३७], प्रपथ्यः [४३], = मार्गों-पर रहनेवाले जीव, मार्गों के रक्षक ।

३१ नीप्यः = पहाड के निम्न स्थान में रहनेवाले प्राणी [३७] अथवा पहाडियों की तराईपर निवास करनेवाले मनुष्य ।

३२ आतप्यः = धूप में रहनेवाले प्राणी [३८]

३३ वात्यः = वायुरूप में रहनेवाले प्राणी [३९]

३४ वीध्र्यः = शुष्क अभ्ररूप में रहनेवाले [३८]

३५ मेघ्यः = मेघ में रहनेवाले प्राणी [३८]

३६-३७ काट्यः [३७, ४४], कूप्यः [३८] = कुवें में रहनेवाले प्राणी, कूप के पास रहनेवाले मनुष्य ।

३८-३९ कुल्यः [३७] कुल्यः [४१] = जल-प्रवाह में अथवा प्रवाह के समीप रहनेवाले प्राणी, जल-प्रवाह के पास रहनेवाले मनुष्य ।

३९ सरस्यः = तालाव के समीप अथवा तालाव में रहनेवाले जीव या मानव [३७]

४० नादेयः = नदी में अथवा नदीके समीप रहनेवाले जीव या मानव [३१, ३७]

४१ वैशन्तः = छोटे तालावमें रहनेवाले जीव [३७], अथवा मनुष्य ।

४२ तीर्थ्यः = तीर्थस्थान में रहनेवाले [४२], ये तीर्थानि प्रचरन्ति (६१) = जो तीर्थों में विचरते हैं, यात्री ।

४३ ऊर्म्यः = लहरियों में रहनेवाले [३१]

४४ प्रवाह्यः = प्रवाह में रहनेवाले [३१]

४५ पार्यः = परतीर में रहनेवाले [४२]

४६ अवार्यः = नदीके इधरके तीरपर रहनेवाले [४२]

४७ फेन्यः = जल के फेन में रहनेवाले [४२]

४८ द्वीप्यः = द्वीप में रहनेवाले, टापू में रहने-वाले. [३१]

४९ निवेष्प्यः = पानी के भंवर में रहनेवाले [४४]

५० क्षयणः = जहां पानी स्थिर रहता है, ऐसे स्थान में रहनेवाले [४३]

ये सब रुद्र जलस्थानोंमें रहनेवाले प्राणियों के रूप हैं । और देखिये—

५१ हृदय्यः = हृदय में रहनेवाले (४४), हृदय को प्रिय लगनेवाले स्थानमें रहनेवाले ।

५२ वास्तुपः = घरों का संरक्षण करनेवाले [३९] पहरेदार ।

५३ वास्तव्यः = घरों में रहनेवाले [३९]

'वास्तव्य तथा वास्तुप' ये दो पद सर्वसाधारण मानवजाति के वाचक हो सकते हैं । क्योंकि प्रायः मानव घरों में रहते और घरों की रक्षा करते हैं ।

सर्वसाधारण रुद्र ।

१ उपवीती = यज्ञोपवीत अथवा उत्तरीय धारण करनेवाले [१७]

२ उष्णीषी = पगडी अथवा साफा धारण करने-वाले [२२]

३ हिरण्यबाहुः = बाहुओं पर सुवर्णभूषण धारण करनेवाले [१७]

४ कपर्दी = जटा अथवा शिखा धारण करनेवाले [२९ ४८]

५ व्युप्तकेशः = जिन के बाल कटे हैं, हजामत बनाये हुए [२९], विशिखासः [५९] = शिखा न रखनेवाले, सिरमुंडन करनेवाले ।

६ सोम्यः = शान्त [३९]

७ याम्यः = नियममें रहनेवाले [३३]

८ क्षेम्यः = आराम देनेवाले [३३], घरमें रहनेवाले,

९-११ आशु, शीघ्र्य, अजिर = शीघ्रता करने-वाले [३१]

१२ १९ महान् [२६], सवृध [३०], पूर्वज [३२], ज्येष्ठ [३२] अग्र्य [३०], प्रथम [३०], बृहत् [३०],

वर्षीयस् [१०], वृद्ध [१९] = बडा, ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, पूर्वज।

१०-२६ अर्भक २६], ह्रस्व [३०] वामन ३०], मध्यम [३२], अपरज [३२], कनिष्ठ, [३२] अवसाध्य [३२] = छोटा, कनिष्ठ, बालक, निकृष्ट

२७ वृक्ष्य = तह में रहनेवाला [३२]

२८ अप्रगल्भ = अज्ञानी [३२]

२९-३० ताम्र, अरुण [३९] = विलोहित [७,५९, ५८], बभ्रु [६] सस्पिञ्जर [१७] लाल रंगवाले;

३१ आक्रन्दयत्, उच्चैर्घोषः = गर्जना करनेवाला [१९]

३२ स्वपत् = सोनेवाला [२३]

३३ जाग्रत् = जागनेवाला [२३]

३४ शयानः = लेटनेवाला [२३]

३५ आसीनः = बैठनेवाला [२३]

३६ तिष्ठत् = खडा रहनेवाला [२३]

३७ धावत् = दौडनेवाला [२३]

यहां नानाविध प्राणियोंके नाम हैं तथापि इनमें कई पद मानवप्राणियों के भी वाचक हो सकते हैं, जैसा देखिये- गह्वरेष्ठ [४४] यह पद सिंहव्याघ्रादि जंगली जानवरों का वाचक करके ऊपर दिया है, पर इस पदका अर्थ 'गुहा में रहनेवाला मानव' भी हो सकता है, जो गुहा में रहता है, वह गह्वरेष्ठ है। इसी तरह 'नीप्य= [३७] पहाड की तराई पर रहनेवाला, यह मानव भी हो सकता है, क्योंकि पहाडों की तराई पर मनुष्य भी रहते हैं। 'कूल्य' [४२] = नदीतीरपर रहनेवाला यह जैसा मानव वैसा ही अन्य प्राणी भी होना संभव है। इसी तरह अन्ततक समझना उचित है। ये पद प्राणियोंके वाचक हैं, फिर ये प्राणी मनुष्य हों अथवा अन्य हों। ये सब रुद्रदेवता के रूप हैं।

वास्तुप- ३९ | यह पद घरोंकी सुरक्षा के लिये जो पहरेदार होते हैं, उन का वाचक है। आगे 'उपवीती' [१७] आदि शब्द मानवों के ही वाचक हैं व्युप्तकेश [हजामत किये हुए], विशिखासः [शिखारहित, संन्यासी] ये सब निःसंदेह मानव ही हैं।

इस के आगे [३२-३७] जागनेवाले सोनेवाले, लेटनेवाले, बैठनेवाले, दौडनेवाले ये सब जाति के प्राणी हो सकते हैं, क्योंकि सभी प्राणी इन क्रियाओं को करते हैं।

१२ से २६ तकके शब्द भी बालक-वृद्ध, जवान-तरुण, वृद्ध, मध्यम-कनिष्ठ आदि अवस्थाओं के वाचक हैं, अतः ये पद सब प्राणियों के लिये प्रयुक्त हो सकते हैं। अतः इन अवस्थाओं में रहनेवाले सभी प्राणी रुद्रदेवता के रूप हैं। बालक, तरुण वृद्ध ये सब रुद्र हैं, अर्थात् सभी प्राणी रुद्र हैं।

यहां प्राणियों की कोई भी अवस्था छूटी नहीं है, अर्थात् सब अवस्थाओं में विद्यमान सब प्राणी रुद्रदेवता के रूप हैं, यह यहां सिद्ध हुआ पशुपक्षी, मानव, कृमिकीट, पतंग सभी रुद्र के रूप हैं। इसी तरह सूक्ष्म कृमि भी रुद्र हैं, जो जलों और अन्नोंद्वारा मनुष्यादि प्राणियों में प्रविष्ट होकर नाना प्रकार के रोग उत्पन्न करते हैं। इनकी भयानकता प्रसिद्ध है-

सूक्ष्म रुद्र।

ये अन्नेषु विविध्यन्ति पात्रेषु पिबतो जनान्।

[वा. १६-६२]

जो अन्नों में तथा जलमें रहते हैं और अन्न खानेवालों तथा जल पीनेवालों में नाना प्रकार की पीडा उत्पन्न करते हैं, ये भी सूक्ष्म रोगकृमि रुद्र के रूप है।

वृक्षरूपी रुद्र।

१. वृक्ष [४०] = वृक्ष, पेड, वनस्पति।

२. हरिकेश [४०] = हरे रंगवाले पत्तेरूपी केश जिनको होते हैं, ऐसे।

इस तरह वृक्षवनस्पति भी रुद्र के रूप हैं।

ईश्वरवाचक रुद्र।

अब ईश्वरको हम रुद्रसूक्तमें 'विश्वरूपं' कहा है। क्योंकि जब सभी रूप परमात्मा के हैं, तब विश्व के सब रूपों को कहां तक गिना जाय? एक बार 'विश्वरूप' कहा, तो उसमें सब रूप आ गये इसलिये ये नाम देखिये-

१. विश्वरूप [२५] = विश्वका रूप धारण करनेवाला,

२. विरूप [२५] = विविध रूप धारण करनेवाला,

३. भव [२८] = सबका उत्पादक,

४. शर्व [२८] = प्रलयकर्ता,

५ भगवः, ईशानः [५३] = भगवान् ईश्वर,

६. भवस्य हेतिः [१८] = ससार के दुःखों को दूर

करने का साधन,

ईश्वर सब का कल्याण करता है, इसलिये निम्नलिखित पद उस में सार्थ होते हैं-

कल्याणकारी रुद्र ।

३८-४० शिव, शिवतर [२१], शिवतम [५१], = कल्याण करनेवाला,

४१-४२ शंभु, शंकर [४१] = शांति करनेवाला।

४३-४४ मयोभव, मयस्कर [४१] = सुख देनेवाला।

४५. अघोर [२] = जो भयानक नहीं है, जो शांत है।

४६. सुमंगल [६] = जो मंगल है।

४७. शंगु [४०] = शांतिसुख का दाता।

४८. मीढुष्टम = सुखदाता [५१]

४९. त्विषीमत् [१०] = तेजस्वी।

५०. विद्युत्य [३८] = बिजली के समान तेजस्वी।

५१-५२ शिपिविष्ट, सहस्राक्षः [२९] = सहस्रों किरणों से युक्त, तेजस्वी।

यहां तक जो रुद्रदेवता का वर्णन हुआ, उससे पाठकों को पता लग सकता है कि, तमाम विश्वरूप ही परमेश्वर का रूप है, इस रूप में सब रूप आ गये। सूर्य चंद्रके रूप, जल पृथ्वी अग्नि विद्युत् के रूप, सब प्राणियों के रूप, सब जन्तुओं के रूप इसमें आ गये हैं।

अर्थात् जो वर्णन पुरुषसूक्त में ' पुरुष अथवा नारायण ' देवता के मिष से किया है, वही वर्णन श्रीमद्भागवत में अनेक बार किया गया है। अब यही वर्णन बडे.विस्तार से इस रुद्रसूक्त में हम देख रहे हैं। इस से वेद का तत्त्वज्ञान सुस्पष्ट हो जाता है कि, सब प्राणियों के रूप में ही ईश्वर हमारे सम्मुख उपस्थित है।

पुरुषसूक्त में ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र ग्राम्य और आरण्य पशु इतने ही नाम गिनाये हैं, परन्तु इस रुद्र-सूक्त में २०० से अधिक नाम इन्हीं वर्गों के गिनाये हैं, और बालक तरुण-वृद्ध आदि अवस्थाओं के वर्णनद्वारा सभी प्राणियोंकी सभी अवस्थाओं का वर्णन करके बताया है कि, सब अवस्था में रहनेवाले सब ही प्राणी रुद्र के रूप हैं। वृक्ष, वनस्पति, शिला, रेती, धूली आदि सब रुद्र के रूप हैं। तेजस्वी सूर्य, वायु, आकाश, जल आदि सब रुद्र के रूप हैं। इतने विस्तार से वर्णन करने के कारण अब पाठकों के मन में कोई शंका नहीं रह सकती कि, यह सब विश्व ही रुद्र का रूप है या नहीं। यदि पाठकों के मन में अब भी शंका रही होगी, तो वे इस लेख में दिये मंत्रों का और उस में आये पदों का अधिक विचार करें।

यह रुद्रसूक्त ईश्वरस्वरूप का विचार करने के कार्य में मुख्य साधन है और पुरुषसूक्त के साथ इस का विचार करने से ईश्वर का स्वरूप अति स्पष्ट हो जाता है। सब प्राणी और सब स्थावर जंगम पदार्थ यह सब ईश्वर का रूप है। सब रूप को ईश्वर का रूप मानकर विचार करने से ही वैदिक-धर्म का ज्ञान ठीक तरह हो सकता है।

पाठक किसी न किसी वर्ण में होंगे, अर्थात् वे अपने आप को परमेश्वर के विश्वव्यापक शरीर के अंश होने का अनुभव करें। सब पाठक इस तरह परमेश्वर से अभिन्न, अनन्य और एकरूप हैं। यह अनन्य भाव समझने से ही अपने कर्तव्यकर्म का ज्ञान हो सकता है।

पाठक रातदिन किसी न किसी स्थावर, जंगम पदार्थके साथ ही व्यवहार करते रहते हैं और ये सब पदार्थ मिलकर ही परमेश्वर का स्वरूप है। और यह ईश्वर का स्वरूप खींचाखींच चारों ओर भर रहा है, कोई स्थान खाली नहीं है। आप जो व्यवहार कर रहे हैं, वह परमेश्वर के साथ ही व्यवहार कर रहे हैं, किसी अन्य से नहीं। आप जिसे ठगाना चाहते हैं, वह परमेश्वर है और जिस का वध आपको करना है, वह भी परमेश्वर ही है। एक बार यह वेद का तत्त्वज्ञान स्वीकार कीजिये, फिर छल, कपट आदि सब आप से आप ही दूर होंगे और कर्म से चित्त शुद्ध होता जायगा। ईश्वरस्वरूप जानने पर जो कर्म होते हैं, उन ही कर्मोंसे चित्त की शुद्धता होना सम्भव है। अतः यही उत्तम साधन है।

इसलिये विश्वरूपी ईश्वर के ज्ञान होने के पश्चात् ही सच्चा अनुष्ठान और सच्चा साधन मनुष्य कर सकता है। इस कारण सब से प्रथम इस ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। इस समय मनुष्य समझते हैं कि, ईश्वर का ज्ञान अन्तिम ज्ञान है, पर वस्तुतः यह ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् ही मनुष्य सुयोग्य कर्मों के साधन के द्वारा परमात्मसेवा करके अपने जीवन का सार्थक कर सकता है।

वेदोक्त मद।

(लेखक- श्री. पं० ऋभुदेवशर्मा, साहित्यभूषण, शास्त्राचार्य)

'आरोग्य-मंदिर' पत्रके के कुलावा के जनवरी मास के अङ्क में श्री० वै० सि० चिं० लेले महोदयने 'आर्यों के आहार में पेय' शीर्षक देकर एक संक्षिप्त लेख लिखा है। आपने अन्न आर फल-फूल को आर्यों के आहार में स्थान देकर बडी कृपा की है। पर आपने आर्यों के आहार में विविध प्रकार के मांस को भी गिन कर अनर्थ किया है। यद्यपि कुछ लोग मांस भी आर्यों का भोजन बताते हैं, पर मांस की सर्वत्र निन्दा की गई है। वैद्यक शास्त्र में मांस के गुणदोष निरूपित हैं, पर इतने से वह खाद्य नहीं माना जा सकता। महर्षि चरक लिखते हैं-

"इष्टवर्णगन्धरसस्पर्शं विधिविहितमन्नपानं प्राणिनां प्राणिसंज्ञकानां प्राणमाचक्षते कुशलाः, .. तच्छरीरधातुव्यूहबलवर्णेन्द्रियप्रसादकरं यथाक्रमुपसेव्यमानं विपरीतमहिताय सम्पद्यते ॥३॥ तस्माद्धिताहितावबोधनार्थमन्नपानविधिमखिलेनोपदेक्ष्यामः ॥

॥ चरक० सूत्र० अ० २७ ॥

चरकशास्त्र में हिताहित के बोधार्थ सब पदार्थों का गुण-दोष वर्णन किया गया है। विधिपूर्वक सेवित अन्नपान हितकारी और विपरीत अहितकर है। यदि चरक के इस मांस-प्रकरण को धर्म माना जाय, तो—

'गदर्य' केवल वातेषु पीनसे विषम-ज्वरे।

शुष्ककास-श्रमात्यग्नि-मांसक्षयहितं च तत् ॥ चर० सूत्र० अ० २७ श्लो० ८०॥ के अनुसार गो-मांस भी भक्ष्य ठहरेगा।

आपने आर्यों के पेय में सोम, सुरा, पाद्य, मध्य को विशेष रूप से गिना है। वेद के प्रमाण से इनके स्वरूप-निर्णय की चेष्टा की है। यह सत्य है कि, ये सोम सुरा आदि मदकारी हैं, पर यह मद कैसा है, इस पर न आपने विचार किया न और लोग करते हैं।

मद्य।

मदकारी पदार्थ को मद्य कहते हैं। वेद में मद धातु के योग से मद और मद्य दोनों शब्द आते हैं। मद या मद्य दोनों शब्दों का वाच्य मदकारी पदार्थ है। मद्य शब्द मदी हर्षे इस धातु से सिद्ध किया गया है। इस की व्याख्या माद्यन्त्यनेन यह की जाती है। अर्थात् जिस पेय के पीने से मनुष्य के हृदय में उत्साह और आनन्द बढे वह मद्य कहलाता है। ऐसा मद तो अन्न भी बढाता है, यथा-

"इन्द्रेहि मत्स्यन्धसो विश्वेभिः सोमपर्वभिः।
महाँ अभिष्टिरोजसा॥" (ऋ. १।९।१)

साय०- अन्धोभिः अन्नैः मत्सि माद्य हृष्टो भव॥

सोम-रस अकेला पिया जाता है और उस के साथ कोई न कोई अन्न भी मिला होता है। इन्द्र इस अन्न से मद में आ जाता है। लौकिक मद्य की कल्पना भी यहीं से चली है। यह भी हर्ष उत्पन्न करता है। पर सोम के पीनेसे जहां बुद्धि और बलकी वृद्धि होती है, मद्य पीनेसे बुद्धि का नाश, शरीर का ह्रास और उत्साह की क्षीणता होती है। हम दोनोंकी तुलनाके लिए कुछ प्रमाण देते हैं-

(१) उप नः सवना गहि सोमस्य सोमपाः पिब।
गोदा इद् रेवतो मदः॥ (ऋ० १।४।२)

अर्थ- हे सोम पीनेवाले इन्द्र! हमारे यज्ञ में आ। सोम-रस पी! सोम पीने पर तेरा मद गौ-आदि पशु या धन प्रदान करता है।

(२) पमाशुमाशवे भर यज्ञश्रियं नृमादनम्।
पतयन् मन्दयत्सखम् (ऋ० १।४।७)

अर्थ- हे यजमान! तू इस इन्द्र के लिये हरनेवाले इन्द्र के साथी, यज्ञ की शोभा बढानेवाले, मनुष्यों को हर्षित करनेवाले सोम का प्रबन्ध कर॥

(३) इदं वसो सुतमन्धः पिबा सुपूर्णमुदरम्।
अनाभयिन् ररिमा ते॥ (ऋ० ८।२।१)

अर्थ- हे इन्द्र! तेरे लिये सोम-रस बनाया गया है, तू पेट-भरकर पी! हे निर्भय! हम यह प्रेम से भेंट करते हैं।

[भर-पेट मद्य पिला कर देखिये, मनुष्य किस लोक में प्रयाण करता है ।]

(४) वावृधान उप द्यवि वृषा वज्र्यरोरवीत् ।
वृत्रहा सोमपातमः ॥ (ऋ० ८।६।४०)

अर्थ- बली वृत्र-नाशक वज्रधारी अधिक सोम पीनेवाले इन्द्रने द्यौ में बढ़कर घोर गर्जना की ।

[अधिक मद्य पीने से बल घटता है, यह हम आगे दिखायेंगे]

(५) प्र व इन्द्राय मादनं हर्यश्वाय गायत ।
सखायः सोमपाव्ने (ऋ० ७।३१।१)

अर्थ- हे मित्रो ! हरे घोडोंवाले तथा सोम पीनेवाले इन्द्र के लिये (मादनम्) मदवाला बनानेवाला स्तोत्र (गीत) गाओ ।

(यह गीत भी कोई मदकारी वस्तु होगा ?)

(६) त्वां मृजन्ति दश योषणः सुतं सोम ऋषिभिर्मतिभिर्धीतिभिर्हितम् । अव्यो वारेभिरुत देवहूतिभिर्नृभिर्यतो वाजमा दर्षि सातये ॥
(ऋ० ९।६८।७)

अर्थ- हे सोम ! अत्यन्त सावधानी से भेड के बालों द्वारा दश अंगुलियाँ तुझे साफ करती हैं, तू सैनिकों से सेवित होकर बाँटने के लिये धन ले आता है । (यही दश अंगुलियां (स्त्रियां) सोम बनाती हैं) ।

आपने लिखा है, सोम का प्रभाव मद्यवदश होता है। आपने ऋग्वेद के ९.६८ ३; ९. ६९.३; ९.६७.१०,११,१२ प्रमाण से लिखा है कि, सोम का प्रभाव मद्य के सदृश है, पर वहाँ ऐसा कोई वाक्य या शब्द नहीं है । हाँ सोम को बलकारी बताया है-

अक्षितं पाज आ ददे ॥ (ऋ० ९।६८।३)

अर्थ- सोम अक्षीण बल बढाता है ।

आप को मद शब्दने भ्रम में डाल रखा है । हम पहले बता चुके हैं कि, मदका धात्वर्थ हर्ष और मदकारीका अर्थ उत्साहवर्धक होता है, अब लौकिक मद्यका गुणधर्म देखिये-

बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारी तदुच्यते ॥
(शार्ङ्गधरसंहिता पूर्वखण्ड० ४।२१)

अर्थ- जो द्रव्य बुद्धि ठिकाने न रहने दे, उसे मदकारी कहते हैं ।

मद्य के दोष ।

को मद्यं तादृशं विद्वान् उन्मादमिव दारुणम् ।
गच्छेदध्वानमस्वन्त बहुदोषमिवाध्वगः ॥४५॥
तृतीयं तु मदं प्राप्य भग्नदार्विव निष्क्रियः ।
मदमोहावृतमना जीवन्नपि मृतैः समः ॥४६॥
रमणीयान् स विषयान् न वत्ति, न सुहृज्जनम् ।
यदर्थं पीयते मद्यं रतिं तां च न विन्दति ॥ ४७॥
कार्याकार्यं सुखं दुःखं लोके यच्च हिताहितम् ।
यदवस्थो न जानाति कोऽवस्थां तां व्रजेद् बुधः ४८
स दूष्यः सर्वभूतानां निन्द्यश्चाप्राह्य एव च ।
व्यसनित्वादुदर्के च स दुःखं व्याधिमश्नुते ॥४९॥
प्रेत्य चेह च यच्छ्रेयः श्रेयो मोक्षश्च यत्परम् ।
मनःसमाधौ तत्सर्वमायत्तं सर्वदेहिनाम् ॥५०॥
मद्येन मनसश्चायं संक्षोभः क्रियते महान् ।
महामारुतवेगेन तटस्थस्येव शाखिनः ॥५१॥
मद्यप्रसङ्गमज्ञात्वा महादोषं महागदम् ।
सुखमित्यधिगच्छन्ति रजोमोहपराजिताः ॥५२॥
मद्योपहतविज्ञाना वियुक्ताः सात्त्विकैर्गुणैः ।
श्रेयोभिर्विप्रयुज्यन्ते मदान्धा मदलालसाः ॥५३॥
मद्ये मोहो भयं शोकः क्रोधो मृत्युश्च संश्रितः ।
सोन्मादमदमूर्च्छायाः सापस्मारापतानकाः ॥५४॥
यत्रैकः स्मृतिविभ्रंशस्तत्र सर्वमसाधुवत् ।
इत्येवं मद्यदोषज्ञा मद्यं गर्हन्ति यत्नतः ॥५५॥
(चरक० चिकित्सा० अ० २४)

अर्थ- उन्मादकारक, दारुण अपनी सुध-बुध भुला देनेवाले बहु दोषवाले मद्यके मार्गपर कौन यात्री चलेगा ?॥४५॥ इस तीसरे मद को पीकर (जिस का ही आजकल प्रचार रह गया है) टूटे वृक्षसमान कर्म-हीन मनुष्य मद और मोह से जकडा हुआ मनवाला जीता हुआ भी मरों के समान रहता है ॥ ४६ ॥ वह पियक्कड रमणीय विषयों को नहीं जानता, अपने मित्रों को भी नहीं जानता और जिस आनन्द के लिये मद्य पिया जाता है, उस आनन्द को भी वह नहीं जान पाता ॥ ४७ ॥ मद की जिस अवस्था में कार्य-अकार्य सुख-दुःख और लोक में हिताहित को नहीं जान पाता, कौन बुद्धिमान् उस अवस्था में पहुँचना चाहेगा ? ॥४८॥ सब को दूषित करनेवाला यह मद्य निन्द्य

और अग्राह्य ही है, क्योंकि इसका व्यसनी मनुष्य आगे दुःख और रोग से ग्रस्त होता है ॥ ४९ ॥ मर कर और वहाँ भी जो कल्याण प्राप्त होता है, मोक्षरूपी जो बड़ा कल्याण है, वह जीवों का सारा कल्याण मनः-शांति के अधीन है ॥ ५० ॥ मद्य से उसी मन में महान् क्षोभ उत्पन्न होता है. जैसे वायु के बड़े वेग से नदी के किनारे स्थित वृक्ष में ॥ ५१ ॥ रजो-गुण से मुग्ध चित्तवाले लोग ही महादोषकारक, महान् रोगों के घर इस मद्यके तत्त्व को न जानकर, इसे सुखदाई मानकर, पीते हैं ॥ ५२ ॥ मद से अन्धे और मद की सदा लालसावाले लोग मद्यसे विज्ञान नष्ट होने और सात्विक गुणों से हीन होने पर कल्याण से भी दूर जा पड़ते हैं, अर्थात् उन्हें लोक या परलोक-सुख प्राप्त नहीं होता ॥ ५३ ॥ मद्य में मोह, भय, शोक, क्रोध और मृत्यु स्थित है । उन्माद के साथ मदमूर्छा आदि और अपस्मार आदि रोग भी ॥ ५४ ॥ जहाँ सब के मूल स्मृति का ही नाश हो जाता है वहाँ सब कुछ बिगड़ जाता है । इस प्रकार जान कर मद्यके दोष जाननेवाले मद्य का यत्न से निषेध करते हैं ॥ ५५ ॥

मद्य की इस से अधिक स्पष्ट निन्दा क्या हो सकती है? आज संसार के सारे सभ्य और असभ्य देश, विद्वान् और मूर्ख कहे जानेवाले लोग इस तीसरे मद्य में मुग्ध हैं। चरक के अनुसार सोम मद्य है और वह बुद्धि-स्मृति नाशक नहीं है। जो लोग मद्य को वैद्यक के अनुकूल बताते हैं, वे इन वाक्यों पर ध्यान दें। आर्यलोग मद्य के सदा विरोधी रहे हैं, वे भला अपने भोजन में ऐसे बुद्धिनाशक पदार्थों का प्रवेश कैसे होने देते। सोम आर्यों के भोजन में गृहीत है, वह निश्चय मदकारी नहीं, बुद्धि को बिगाड़नेवाला नहीं। वैद्यक में विष का भी प्रयोग होता है, पर विष खाने का पदार्थ नहीं है। इसलिये धर्मशास्त्र में इन दोनों पर विचार कर मद्यादि का निषेध है और हमें इस से बचना चाहिये।

सुरा।

(१) तमो-गुण प्रधानं च यथा मद्यं सुरादिकम्॥ (शार्ङ्गधर सं० पूर्वख० ४।२२)

(२) सुरा सुनोतेः (नि० ११११)

(३) अपां च वा एष ओषधीनां च रसो यत्सुरा॥ (श० १२।८।१।४)

(४) अनृतं पाप्मा तमः सुरा (श० ५।१।२।१०)

(५) यत्सुरा भवति क्षत्ररूपं तद्यो अन्नस्य रसः। (ऐ० ८।८)

(६) अन्नं सुरा ॥ (तै० १।३।३।५)

(७) यदन्नस्य (शमलमासीत्) सा सुरा (अभवत्) (तै० १।३।२।६)

(८) प्रजापतेर्वा एते अन्धसी यत्सोमश्च सुरा च। (श० ५।१।२।१०)

(९) एतद्वै देवानां परममन्नं यत्सोमः। एतन्मनुष्याणां यत्सुरा। (तै० १।३।३।२)

(१०) पुमान् वै सोमः स्त्री सुरा (तै० १।३।३।४)

(११) विट् सुरा। (श० १२।७। ।८)

(१२) यशो हि सुरा (श० १२।७।३।१४)

(१३) अशिव इव वा एष भक्षो यत्सुरा ब्राह्मणस्य (श० १२।८।१।५)

अर्थ- (१) मद्य और सुरा आदि तमोगुणप्रधान द्रव्य हैं। (२) षुञ् अभिषवे इस धातु से सुरा शब्द सिद्ध होता है। ओषधिः सोमः सुनोतेर्यदेनमभिषुण्वन्ति। (नि० ११।२) सोम एक ओषधि है, इस का नाम सोम इसलिये है कि, इसे कूट कर निचोड़ते हैं। सोम-रस या ओषधियों के रस का नाम सुरा है।) (३) यह जल और ओषधियों का रस है, जिसे सुरा कहते हैं। (४) अनृत, पापी और अन्धकार सुरा है। (५) जो सुरा होती है, वह क्षात्रय का रूप है, अन्न का रस है, (६) अन्न ही सुरा है, (७) जो अन्न का विकृत रूप था, वह सुरा कहलाया, (८) सोम और सुरा प्रजापति के भोजन हैं, (९) सोम देवोंका परम अन्न और सुरा अन्न मनुष्योंका परम है। (१०) पुरुष सोम और स्त्री सुरा है, (११) विट् (वैश्य, प्रजा) सुरा है, (१२) यश ही सुरा है, (१३) सुरा ब्राह्मण का निन्दित भोजन है, अर्थात् ब्राह्मण के लिये वर्जित है।

उपरिनिर्दिष्ट वाक्यों के देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि, देवों के निमित्त जो सुरा बनाई जाती थी, वह पका हुआ भोजन, फलों का सद्यः निचोड़ा हुआ, रस आदि होता था। वैद्यक जिसे तमोगुणप्रधान द्रव्य कहता है, आज जिसे हम मद्य या सुरा कहते हैं या समझते हैं, यह आर्यों का कभी भोजन नहीं रही। शतपथने 'अशिव इव' कह कर इस तमोगुणप्रधान द्रव्य की ओर संकेत किया है

अर्थ- चले हुए एक पल द्रव्य में एक कुडव उष्ण जल, मिट्टी के पात्र में डाले, फिर उसे कपडे से छाने ॥१॥ वह चूर्ण से बना हुआ बहनेवाला पदार्थ फाण्ट होगा ॥२॥ फाण्ट का एक भेद होने के कारण यहाँ ही मन्थ का भी वर्णन करता हूँ। मिट्टी के बर्तन में चार पल शीतल जल और एक पल पीसा हुआ चूर्ण डाल कर मथे, छाने और दो पल मान में पीवे ॥ ९।१० ॥ फालसादि के योग से निर्मित खर्जूरादिमन्थ सारे मद्यों का विकार दूर कर देता है ॥ ११ ॥

मन्थ आटे से बनाया जाता है, वह मदकारी नहीं, मद को दूर करता है। इसी प्रकार शतपथके चौदहवें काण्ड में भी लिखा है।

> " स यः कामयेत महत्प्राप्नुयाम् इति । उदग-
> यन आपूर्यमाणपक्षे पुण्याहे द्वादशाहमुपसद्-
> व्रती भूत्वौदुम्बरे कंसे चमसे वा सर्वौषधं
> फलानीति सम्भृत्य परिसमुह्य परिलिप्याग्नि
> मुपसमाधायावृताऽऽज्यं संस्कृत्य पुंसा नक्षत्रेण
> मन्थं सन्नीय जुहोति '॥ [शत० का० १४, अ०
> ६ ब्रा० ३ मं० १ ॥

अर्थात् जो बडा बनना चाहता है, वह उत्तम प्रभवाला के काल में व्रत धारण कर कंस में वा चमसेमें सब ओषधियों और फलोंका आटा रख कर वेदी आदि ठीक कर घी तपा कर मन्थ के साथ हवन करे, अर्थात् शेष घृत मन्थपर डालता जाय। शत० की वासुदेव स्वामिकृत टीका में ' मन्थं सर्वौषधफलपिष्टम् ' ऐसा लिखा है, अर्थात् सब अन्नों को पीस कर मन्थ बनाया जाता है। आगे मन्थ का माहात्म्य बताते हुए शतपथकारने लिखा है-

> ' एतम् हैव सत्यकामो जाबालः, अन्ते-
> वासिभ्य उक्त्वा उवाचाऽपि य एनं शुष्के
> स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पला-
> शानीति ॥ [श० १४।९।३।२०]

इस समय वेदार्थ अन्धकार में है, अतः जिस के मन में जो आता है, वेद के नामपर लिखता रहता है। वेद में मांसाहार की आज्ञा, सुरा-पान, व्यभिचार, मिथ्या-विश्वास आदि स्पष्ट दीख पडते हैं, ऐसा कई सज्जन कहते हैं। सायणाचार्य उव्वट महीधरादि के भाष्यों के रहते हुए हम उनकी बात काट नहीं सकते। वे जैसा देखते हैं, ठीक कहते हैं। पर हम तो निवेदन करना चाहते हैं कि, देखने की दूसरी दृष्टि भी है, उससे यदि देखें, तो सम्भवतः वेद में कुछ और ही दिखाई देगा। इति।

वेदका रहस्य ।

अध्याय १३

उषा और सत्य ।

[लेखक- श्रीअरविंद; अनुवादक- स्वामी अभयदेवजी]

उषा का बार बार इस रूप में वर्णन किया गया है कि वह गौओं की माता है । तो यदि ' गौ ' वेद में भौतिक प्रकाश का या आध्यात्मिक ज्योति का प्रतीक हो, तब इस वाक्य का या तो यह अभिप्राय होगा कि वह दिन के प्रकाश की जो भौतिक किरणें हैं, उनकी माता या स्रोत है, अथवा इस का यह अर्थ होगा कि वह दिव्य दिन के ज्योतिःप्रसार की अर्थात् आन्तरिक प्रकाश की प्रभा तथा निर्मलता को रचती है । परन्तु वेदमें हम देखते हैं कि देवों की माता अदिति का दोनों रूपों में वर्णन हुआ है, गौरूप में और सब की सामान्य माता के रूप में; वह परा ज्योति है और अन्य सब ज्योतियाँ उसी से निकलती हैं । आध्यात्मिक रूप में, अदिति * परा या असीम चेतना है, देवों की माता है, उस ' दनु ' या ' दिति ' के प्रतिकूल जो कि विभक्त चेतना है और वृत्र तथा उन दूसरे दानवों की माता है, जो देवताओं के एवं प्रगति करते हुए मनुष्य के शत्रु होते हैं और अधिक सामान्य रूप में कहें, तो वह (अदिति) भौतिक से प्रारम्भ करके उगत्स्तर सम्बन्धिनी जितनी चेतनायें हैं, उन सब की आदि स्रोत है; सात गौएं, ' सप्त गावः, ' इसी के रूप हैं और हमें बताया गया है कि, उस माता के सात नाम या स्थान हैं । तो उषा जो गौओंकी माता है, वह केवल इसी परा ज्योति का, इसी परा चेतना का, अदितिका कोई रूप या शक्ति हो सकती है और सचमुच हम उसे १.११३.१९ में इस रूप में वर्णित हुई हुई पाते हैं- माता देवानामदितेरनीकम् । ' देवों की माता, अदिति का रूप (या शक्ति) । '

पर उस उच्चतर या अविभक्त चेतना की ज्योतिर्मयी उषाका उदय सर्वदा सत्यरूपी उषाका उदय होता है और यदि वेदकी उषादेवता यही ज्योतिर्मयी उषा है, तो ऋग्वेद के मन्त्रों में हमें अवश्यमेव इस का उदय या आविर्भाव बहुधा सत्य के- ऋत के विचारके साथ सम्बद्ध मिलना चाहिए । और इस प्रकार का सम्बन्ध हमें स्थान-स्थान पर मिलता है । क्योंकि सब से पहले तो हम यही देखते हैं कि उषा को कहा गया है कि वह ' ठीक प्रकार से ऋतके पथ का अनुसरण करती है, ' (ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु (१.१२४.३) । यहाँ ' ऋत ' के जो कर्मकाण्डपरक या प्रकृतिवादी अर्थ किये जाते हैं, उन में से कोई भी ठीक नहीं घट सकता; यह बार-बार कहे चले आने में कुछ अर्थ नहीं बनता कि, उषा यज्ञ के मार्ग का अनुसरण करती है, या पानी के मार्ग का अनुसरण करती हैं । तो इस के स्पष्ट मतलब को हम केवल इस प्रकार टाल सकते हैं कि, ' पन्था ऋतस्य ' का अर्थ हम सत्य का मार्ग नहीं, बल्कि सूर्य का मार्ग समझें । लेकिन वेद तो इस के विपरीत यह वर्णन करता है कि, सूर्य उषा के मार्ग का अनुसरण करता है (न कि उषा सूर्य के) और भौतिक उषा के अवलोकन करनेवाले के लिये यही वर्णन स्वाभाविक भी है । इस के अतिरिक्त, यदि यह स्पष्ट न भी होता कि, इस प्रयोग का अर्थ दूसरे सन्दर्भों में सत्यका मार्ग ही है फिर भी आध्यात्मिक अर्थ बीच में आ ही जाता है; क्योंकि फिर भी उषा सूर्य के मार्ग का अनुसरण करती है, इसका अभिप्राय यही होता है कि, उषा उस मार्ग का अनुसरण करती है, जो सत्यनयका या सत्यके देव का, सूर्यसविताका मार्ग है ।

हम देखते हैं कि उपर्युक्त १.१२४.३ में इतना ही नहीं

---

* यह न समझ लिया जाय कि, ' अदिति ' व्युत्पत्तिशास्त्रानुसार ' दिति ' का अभावात्मक है, ये दोनों शब्द बिल्कुल ही भिन्न भिन्न दो धातुओं- ' अद् ' और ' दि ' से बने हैं ।

कहा है, बल्कि यहाँ अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट और आदेशपूर्ण आध्यात्मिक निर्देश विद्यमान है- क्योंकि 'ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु,' के आगे साथ ही कहा है 'प्रजानतीव न दिशो मिनाति।' "उषा सत्य के मार्ग के अनुसार चलती है और जानती हुई के समान वह प्रदेशों को सीमित नहीं करती है।" 'दिशः' शब्द दोहरा अर्थ देता है, यह हम ध्यान में रखें, यद्यपि यहाँ इस बात पर बल देने की विशेष आवश्यकता नहीं है। उषा सत्य के पथ की दृढ अनुगामिनी है और चूंकि इस बात का उसे ज्ञान या बोध रहता है, इसलिये वह असीमता को, बृहत् को, जिसकी कि वह ज्योति है, सीमित नहीं करती। यही इस मन्त्र का असली अभिप्राय है, यह बात ५ म मण्डल की एक ऋचा (५।८०।१) से निर्विवाद स्पष्ट रूपसे सिद्ध हो जाती है और इस में भूलचूक की कोई संभावना नहीं रह जाती। इस में उषा के लिए कहा है- ऋतद्यामानं बृहतीम् ऋतेन ऋतावरीं, स्वरावहन्तीम्। "वह प्रकाशमय गतिवाली है, ऋतसे महान् है, ऋत में सर्वोच्च (या ऋत से युक्त) है, अपने साथ स्वः को लाती है।" यहाँ हम बृहत् का विचार, सत्य का विचार, स्वर्लोक के और प्रकाश का विचार पाते हैं; और निश्चय ही ये सब विचार इस प्रकार बलिष्ठता और दृढता से एकमात्र भौतिक उषा के साथ सम्बद्ध नहीं रह सकते। इसके साथ हम ७।७५।१ के वर्णन की भी तुलना कर सकते हैं- व्युषा आवो दिविजा ऋतेन, आविष्कृण्वाना महिमानमागात्। "द्यौमें प्रकट हुई उषा सत्यके द्वारा वस्तुओं को खोल देती है, वह महिमा को व्यक्त करती हुई आती है।" यहाँ पुन हम देखते हैं कि, उषा सत्य की शक्ति के द्वारा सब वस्तुओं को प्रकट करती है और इसका परिणाम यह बताया गया है कि, एक प्रकार की महत्ता का आविर्भाव हो जाता है।

अन्तमें इसी विचारको हम आगे भी वर्णित किया गया पाते हैं, बल्कि यहाँ सत्यके लिए 'ऋत' के बजाय सीधा 'सत्य' शब्द ही है, जो कि 'ऋतम्' की तरह दूसरा अर्थ लिये जा सकने की सम्भावनामें डालनेवाला भी नहीं है- सत्या सत्येभिर्महती महद्भिर्देवी देवेभिः। (७।७५।७) "उषा अपनी सत्ता में सच्चे देवों के साथ सच्ची है, महान् देवों के साथ महान् है।" वामदेव ने अपने एक सूक्त ४.५१ में उषा के इस "सत्य" पर बहुत बल दिया है, क्योंकि यहाँ वह उषाओं के बारे में केवल इतना ही नहीं कहता कि, "तुम सत्य के द्वारा जोते हुए अश्वों के साथ जल्दी से लोकों को चारों ओर से घेर लेती हो, ×" ऋतयुग्भिः अश्वैः (तुलना करो १.१५.२ ※), परन्तु वह उनके लिए कहता है- भद्रा ऋतजातसत्याः (४.५१.७) "वे सुखमय हैं और सत्यसे उत्पन्न हुई सच्ची हैं।" और एक दूसरी ऋचा में वह उनका वर्णन इस रूप में करता है कि, वे देवी हैं जो कि ऋतके स्थानसे प्रबुद्ध होती हैं। +"

'भद्रा' और 'ऋत' का यह निकट सम्बन्ध आग्निको कहे गये मधुच्छन्दस् के सूक्त में इसी प्रकारका जो विचारों का परस्पर सम्बन्ध है, उस का हमें स्मरण करा देता है। वेद की अपनी आध्यात्मिक व्याख्या में हम प्रत्येक मोड़ पर इस प्राचीन विचार को पाते हैं कि, 'सत्य' आनन्द को प्राप्त करने का मार्ग है। तो उषाको, सत्य की ज्योति से जगमगाती उषा को, भी अवश्य सुख और कल्याण को लानेवाला होना चाहिए। उषा आनन्द को लानेवाली है, यह विचार वेद में हम लगातार पाते हैं और वसिष्ठने ७.८१.३ में इसे बिल्कुल स्पष्ट रूप में कह दिया है- या वहसि पुरु स्पार्हं रत्नं न दाशुषे मयः। "तू जो देनेवाले को कल्याण-सुख प्राप्त कराती है, जो कि अनेक रूप है और स्पृहणीय आनन्द रूप है।"

वेद का एक सामान्य शब्द 'सूनृता' है, जिस का अर्थ सायण ने "मधुर और सत्य वाणी" किया है, परन्तु प्रतीत होता है कि, इसका प्रायः और भी अधिक व्यापक अभिप्राय "सुखमय सत्य" है। उषा को कहीं कहीं यह कहा गया है कि, वह "ऋतावरी" है, सत्य से परिपूर्ण है और कहीं उसे "सूनृतावती" कहा गया है। वह आती है सच्चे और सुखमय शब्दोंको उच्चरित करती

× यूयं हि देवीर्ऋतयुग्भिरश्वैः परिप्रयाथ भुवनानि सद्यः। (४.५१.५)

※ वि तद्ययुररुणयुग्भिरश्वैश्चित्रं भान्त्युषसश्चन्द्ररथाः। (१.५५.१)

+ ऋतस्य देवीः सदसो बुधानाः (४.५१-८)

हुई, " सूनृता ईरयन्ती " । जैसे उषा का यह वर्णन किया गया है कि, वह जगमगाती हुई गौओं की नेत्री है और दिनों की नेत्री है, वैसे ही उसे सुखमय सत्यों की प्रकाशवती नेत्री कहा गया है, भास्वती नेत्री सूनृतानाम् (१.९२.७) और वैदिक ऋषियों के मनमें ज्योति, किरणों या गौओं के विचार और सत्य के विचार में जो परस्पर गहरा सम्बन्ध है, वह एक दूसरी ऋचा १ ९२.१४ में और भी अधिक स्पष्ट तथा असन्दिग्ध रूप से पाया जाता है- गोमति अश्वावति विभावरि ... ... सूनृतावति । " हे उषः, जो तू अपनी जगमगाती हुई गौओंके साथ है, अपने अश्वोंके साथ है, अत्यधिक प्रकाशमान है और सुखमय सत्यों से परिपूर्ण है । " इसी जैसा पर तो भी इससे अधिक स्पष्ट वाक्यांश १.४८ २ में है, जो इन विशेषणों के इस प्रकार रखे जाने के अभिप्राय को सूचित कर देता है- गोमतीरश्वावतीर्विश्वसुविदः । " उषाएँ जो अपनी ज्योतियों (गौओं) के साथ हैं, अपनी त्वरित-गतियों (अश्वों) के साथ हैं और जो सब वस्तुओं को ठीक प्रकार से जानती हैं " ।

वैदिक उषा के आध्यात्मिक स्वरूपका निर्देश करनेवाले जो उदाहरण ऋग्वेद में पाये जाते हैं, वे किसी भी प्रकार यहीं तक परिमित नहीं हैं । उषा को निरन्तर इस रूप में प्रदर्शित किया गया है कि, वह दर्शन, बोध, ठीक दिशामें मति को जागृत करती है । गोतम राहूगण कहता है, "यह देवी सब भुवनों को सामने होकर देखती है, वह दर्शन-रूपी आँख अपनी पूर्ण विस्तीर्णता में चमकती है, ठीक दिशा में चलने के लिए सम्पूर्ण जीवन को जगाती हुई वह सब विचारशील लोगों के लिए वाणी को प्रकट करती है ।" * विश्वस्य वाचमविदन् मनायोः (१.९२.९) ।

यहां हम उषा को इस रूप में पाते हैं कि, वह जीवन और मनको बंधन मुक्त करके अधिकसे अधिक पूर्ण विस्तार में पहुँचा देती है और यदि हम इस उपर्युक्त निर्देश को यहीं तक सीमित रखें कि, यह केवल भौतिक उषा के उदय होने पर पार्थिव जीवन के पुनः जाग उठने का ही वर्णन है, तो हम ऋषि के चुने हुए शब्दों और वाक्यांशों में जो बल है, उस सारे की उपेक्षा ही कर रहे होंगे और यदि यह हो कि, उषा से लाये जानेवाले दर्शन के लिए यहाँ जो शब्द प्रयुक्त किया गया है, ' चक्षुः, ' उसे केवल भौतिक दर्शनशक्ति को ही सूचित कर सकनेयोग्य माना जाय, तो दूसरे सन्दर्भों में हम इसके स्थान पर ' केतु ' शब्द पाते हैं, जिसका अर्थ है बोध, मानसिक चेतना में होनेवाला बोधयुक्त दर्शन, ज्ञान की एक शक्ति । उषा है ' प्रचेताः, ' इस बोधयुक्त ज्ञान से पूर्ण । उषाने, जो कि ज्योतियों की माता है, मन के इस बोधयुक्त ज्ञान को रचा है, गवां जनित्री अकृत प्र केतुम् (१.१२४.५) । वह स्वयं ही दर्शनरूप है- "अब बोधमय दर्शन की उषा खिल उठी है, जहाँ कि पहले कुछ नहीं (असत्) था," वि नूनमुच्छादसति प्र केतुः (१.१२४.११) । वह अपनी बोधयुक्त शक्ति के द्वारा सुखमय सत्योंवाली है, चिकि-त्वत् सूनृतावरि (४.५२ ४) ।

वह बोध, वह दर्शन, हमें बताया गया है, अमरत्व का है- अमृतस्य केतुः (३.६१.३) । दूसरे शब्दोंमें वह उस सत्य और सुख की ज्योति है, जिनसे उच्चतर या अमर चेतना का निर्माण होता है । रात्रि वेद में हमारी उस अन्धकारमय चेतना का प्रतीक है जिस के ज्ञान में अज्ञान भरा पड़ा है और जिसके संकल्प तथा क्रिया में स्खलन पर स्खलन होते रहते हैं और इसलिए जिस में सब प्रकार की बुराई, पाप तथा कष्ट रहते हैं । प्रकाश है ज्योतिर्मयी उच्चतर चेतना का आगमन जो कि सत्य और सुख को प्राप्त कराता है । हम निरन्तर ' दुरितम् ' और ' सुवितम् ' इन दो शब्दों का विरोध पाते हैं । ' दुरितम् ' का शाब्दिक अर्थ है स्खलन, गलत रास्ते पर जाना और औपचारिक रूप से यह सब प्रकार की गलती और बुराई, सब पाप, भूल और विपत्तियों का सूचक है । 'सुवितम्' का शाब्दिक अर्थ है, ठीक और भले रास्ते पर जाना और यह सब प्रकारकी अच्छाई तथा सुख को प्रकट करता है और विशेषकर इस का अर्थ वह सुख-समृद्धि है, जो कि सही मार्ग पर चलनेसे मिलती है । सो वसिष्ठ इस देवी उषा के विषय में (७.

---

* विश्वानि देवी भुवनाभिचक्ष्या प्रतीची चक्षुरुर्विया वि भाति ।
विश्वं जीवं चरसे बोधयन्ती विश्वस्य वाचमविदन्मनायोः ॥ (ऋ० १।९२।९)

७८.१ में) इस प्रकार कहता है- " दिव्य उषा अपनी ज्योति से सब अन्धकारों और बुराइयों को हटाती हुई आ रही है ×" (विश्वा तमांसि दुरिता;) और बहुतसे मन्त्रों में इस देवीका वर्णन इस रूप में किया गया है कि, वह मनुष्यों को जगा रही है, प्रेरित कर रही है, ठीक मार्ग की ओर, सुख की ओर (सुविताय)।

इसलिये वह केवल सुखमय सत्यों की ही नहीं, किंतु हमारी आध्यात्मिक समृद्धि और उल्लास की भी नेत्री है, उस आनन्द को लानेवाली है, जिस तक मनुष्य सत्य के द्वारा पहुँचता है या जो सत्यके द्वारा मनुष्य के पास लाया जाता है, (एषा नेत्री राधस सूनृतानाम् । (७.७६.७) वह समृद्धि जिस के लिए ऋषि प्रार्थना करते हैं, भौतिक दौलतों के अलङ्कार से वर्णन की गई है; वह 'गोमद् अश्वावद् वीरवद्' है, या वह 'गोमद् अश्वावद् रथवच्च राधः' है। गौ (गाय), अश्व (घोडा), प्रजा या अपत्य (सन्तान), नृ या वीर (मनुष्य या शूरवीर), हिरण्य (सोना), रथ (सवारीवाला रथ), श्रवः (भोजन या कीर्ति)- याज्ञिक सम्प्रदायवालों की व्याख्या के अनुसार ये ही उस सम्पत्ति के अंग हैं, जिन की वैदिक ऋषि कामना करते थे। यह लगेगा कि, इस से अधिक ठोस दुनियावी पार्थिव और भौतिक दौलत कोई और नहीं हो सकती थी; निस्सन्देह ये ही वे ऐश्वर्य हैं, जिन के लिए कोई बेहद भूखी, पार्थिव वस्तुओं की लोभी, कामुक, जंगली लोगोंकी जाति अपने आदि देवोंसे याचना करती। परन्तु हम देख चुके हैं कि 'हिरण्य' वेदमें भौतिक सोने की अपेक्षा दूसरे ही अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। हम देख आए हैं कि 'गौएं' निरन्तर उषा के साथ सम्बद्ध होकर बार-बार आती हैं, कि वह प्रकाश के उदय होने का आलङ्कारिक वर्णन होता है और हम यह भी देख चुके हैं कि, इस प्रकाश का सम्बन्ध मानसिक दर्शन के साथ है और उस सत्य के साथ है जो कि सुख लाता है। और अश्व, घोडा, आध्यात्मिक भावों के निर्देशक इन मूर्त अलंकारों में सर्वत्र गौ के प्रतीकात्मक अलंकार के साथ जुडा हुआ आता है; यथा, 'गोमती अश्वावती' है। वसिष्ठ ऋषिकी एक ऋचा (७.७७.३) है, जिसमें वैदिक अश्व का प्रतीकात्मक अभिप्राय बडी स्पष्टता और बडे बल के साथ प्रकट होता है-

> देवानां चक्षुः सुभगा वहन्ती, श्वेतं नयन्ती
> सुदृशीकमश्वम् । उषा अदर्शि रश्मिभिर्व्यक्ता,
> चित्रामघा विश्वमनु प्रभूता ॥

'देवोंकी दर्शनरूपी आँख को लाती हुई, पूर्ण दृष्टिवाले, सफेद घोडेका नेतृत्व करती हुई सुखमय उषा रश्मियोंद्वारा व्यक्त होकर दिखाई दे रही है; वह अपने चित्रविचित्र ऐश्वर्योंसे परिपूर्ण है, अपने जन्मको सब वस्तुओंमें अभिव्यक्त कर रही है।' यह पर्याप्त स्पष्ट है कि 'सफेद घोडा' पूर्णतया प्रतीकरूप ही है + (सफेद घोडा यह मुहावरा अग्निदेवताके लिए प्रयुक्त किया गया है, जो कि अग्नि ◆ 'प्रज्ञा का संकल्प' है, कविक्रतु है, दिव्य संकल्पकी अपने कार्यों को करने की पूर्ण दृष्टि-शक्ति है। ५.१.४) और वे 'चित्र-विचित्र ऐश्वर्य' भी आलंकारिक ही हैं, जिन्हें कि वह अपने साथ लाती है, निश्चय ही उनका अभिप्राय भौतिक धन-दौलत से नहीं है।

उषाका वर्णन किया गया है कि वह 'गोमती अश्वावती वीरवती' है और क्योंकि उसके साथ लगाये गये 'गोमती' और 'अश्वावती' ये दो विशेषण प्रतीकरूप हैं और इन का अर्थ यह नहीं है कि, वह 'भौतिक गौओं और भौतिक घोडोंवाली' है, बल्कि यह अर्थ है कि वह ज्ञान की ज्योति से जगमगानेवाली और शक्ति की तीव्रता

× उषा याति ज्योतिषा बाधमाना विश्वा तमांसि दुरिताप देवी। (७-७८-२)

+ घोडा प्रतीकरूप ही है, यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है दीर्घतमस् के सूक्तों में जो कि यज्ञ के घोडे के सम्बन्ध में हैं, अश्वद्धिक्रावन् विषयक भिन्न भिन्न ऋषियों के सूक्तों में और फिर बृहदारण्यक उपनिषद् के आरम्भ में जहाँ वह जटिल आलङ्कारिक वर्णन है, जिसका आरम्भ " उषा घोडे का सिर है, " (उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः,) इस वाक्य से होता है।

◆ अग्निमच्छा देवयतां मनांसि चक्षूंषीव सूर्ये सञ्चरन्ति ।
यदीं सुवाते उषसा विरूपे श्वेतो वाजी जायते अग्रे अह्नाम् ॥ (५।१।४)

से युक्त है, तो 'वीरवती' का अर्थ भी यह नहीं हो सकता कि वह 'मनुष्योंवाली है या शूर वीरों, नौकर-चाकरों या पुत्रों से युक्त' है, बल्कि इस की अपेक्षा इस का अर्थ यह होगा कि, वह विजयशील शक्तियों से संयुक्त है अथवा यह शब्द बिल्कुल इसी अर्थ में नहीं, तो कमसे कम किसी ऐसे ही और प्रतीकरूप अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। यह बात (१.११३.१८) में बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है। 'या गोमतीरुषसः सर्ववीराः ......ता अश्वदा अश्नवत् सोम सुत्वा। ' इस का यह अर्थ है कि, 'वे उषाएं जिन में कि भौतिक गायें हैं और सब मनुष्य या सब नौकर-चाकर हैं, सोम अर्पित करके मनुष्य उन का भौतिक घोड़ों को देनेवाली के रूप में उपभोग करता है।' उषा देवी यहाँ आन्तरिक उषा है, जो कि मनुष्य के लिए उस की बृहत्तम सत्ता की विविध पूर्णताओं को, शक्ति को चेतना को और प्रसन्नता को लाती है; वह अपनी ज्योतियों से जगमग है, सब संभव शक्तियों और बलों से युक्त है, वह मनुष्य को जीवन-शक्ति का पूर्ण बल प्रदान करती है. जिस से कि वह उस बृहत्तर सत्ता के असीम आनन्द का स्वाद ले सके।

अब हम अधिक देर तक 'गोमद् अश्वावद् वीरवद् राधः' को भौतिक अर्थों में नहीं ले सकते; वेद की भाषा ही हमें इस से बिल्कुल भिन्न तत्व का निर्देश कर रही है। इस कारण देवोंद्वारा दी गई इस सम्पत्ति के अन्य अंगों को भी हमें इसी की तरह अवश्यमेव आध्यात्मिक अर्थों में ही लेना चाहिए; सन्तान, सुवर्ण, रथ ये प्रतीकरूप ही हैं; 'श्रवः' कीर्ति या भोजन नहीं है, बल्कि इस में आध्यात्मिक अर्थ अन्तर्निहित है और इस का अभिप्राय है, वह उच्चतर दिव्य ज्ञान जो कि इंद्रियों या बुद्धि का विषय नहीं है, बल्कि जो सत्य की दिव्य श्रुति है और सत्य के दिव्य दर्शन से प्राप्त होता है, 'रयिं दीर्घश्रुत्तमम्' 'रयिं श्रवस्युम्' सत्ता की वह सम्पन्न अवस्था है, वह आध्यात्मिक समृद्धि से युक्त वैभव है, जो कि दिव्य ज्ञान की ओर प्रवृत्त होता है (श्रवस्यु) और जिस में उस दिव्य शब्द के कम्पनों को सुननेके लिए सुदीर्घ, दूर तक फैली श्रवणशक्ति है, जो दिव्य शब्द हमारे पास असीम के प्रदेशों (दिशः) से आता है। इस प्रकार उषाका वह उज्ज्वल अलंकार हमें वेदसम्बन्धी उन सब भौतिक, कर्मकाण्डिक, अज्ञानमूलक भ्रांतियों से मुक्त कर देता है, जिनमें कि यदि हम फँसे रहते तो वे हमें असंगति और अस्पष्टता की रात्रि में ठोकरों पर ठोकरें खिलाती हुई एक से दूसरे अन्धकूपमें ही गिराती रहतीं; वह हमारे लिए बन्द द्वारों को खोल देती है और वैदिक ज्ञान के हृदय के अन्दर हमारा प्रवेश करा देती है।

वैदिक स्वप्नविज्ञान ।

(लेखक- श्री० पं० भगवद्दत्त वेदालंकार, गुरुकुल, कांगड़ी)

वैदिक साहित्य में मनुष्य की जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन अवस्थायें बताई गई हैं। इन तीनों में ठीक ठीक सीमानिर्देश (Line of Demarcation) करना असंभव नहीं, तो कठिन अवश्य है। मनुष्य प्रायः यह समझते हैं कि, दिन में हमारी जागृतावस्था होती है। परन्तु यह भ्रान्ति है। इन तीनों अवस्थाओं में मनुष्य की जाग्रत् व सुषुप्ति अवस्था बहुत थोडी होती है। प्रायः मनुष्य स्वप्नावस्था में ही रहते हैं। स्वप्नावस्था में मनुष्य की इन्द्रियादिकों का बाह्य जगत् से सम्बन्धविच्छेद हो जाता है। रात्रि में तो यह सम्बन्धविच्छेद होता ही है। परन्तु जिसे हम जागृतावस्था कहते हैं- उसमें भी यह बहुतायत में होता है। साधारण मनुष्य अपनी इन तीनों अवस्थाओंका सूक्ष्म विवेचन न कर सकने के कारण स्वप्नावस्था प्रायः रात्रि में ही मानते हैं। जागते हुए हम बहुत बार स्वप्न ले रहे होते हैं, यह आधुनिक विद्वान् भी किसी अंश में, दिवा-स्वप्न (Day-Dream) के रूप में इसे स्वीकार करते हैं। वैदिक शास्त्रों में स्वप्न शब्द का क्या भाव है? और उसका कितना क्षेत्र है? इत्यादि बातों के विवेचन से सब बातें स्पष्ट हो जायेंगी। वस्तुतः स्वप्नावस्था के स्पष्टीकरण के लिये जागृत व सुषुप्ति अवस्थाओं तथा अन्य कई सम्बद्ध बातों के स्पष्टीकरण की भी आवश्यकता है। परन्तु एक तो सामान्य स्वप्न मेरे इस निबन्ध का विषय नहीं है और दूसरे निबन्ध का भी कलेवर बहुत बढ़ जायेगा। इसलिये इनपर फिर कभी विचार किया जायेगा।

स्वप्न शब्द हमारे साहित्यमें दो अर्थोंमें प्रयुक्त होता है।

१. इन्द्रियादिकों का बाह्य जगत् से सम्बन्धविच्छेद कर विश्राम करना।

२. मन का अन्तर्लीला करना।

पहली को निद्रावस्था (Sleeping) तथा दूसरी को स्वप्नावस्था (Dreaming) कहा जा सकता है। परन्तु वैदिक साहित्यमें जिसे स्वप्नावस्था कहा है, उसमें उपर्युक्त यह दोनों बातें अवश्य सम्बन्द्ध होती हैं। अर्थात् स्वप्नमें मनुष्यकी इन्द्रियादिकों का बाह्य जगत् से सम्बन्धविच्छेद भी होता है। और साथ साथ मन अन्तर्लीला भी कर रहा होता है। इसको हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि, स्वप्न के दो पार्श्व हैं, एक इन्द्रियादिकों का बाह्य जगत्से सम्बन्धविच्छेद होना तथा दूसरा मन का अन्तर्लीला करना। इसलिये दोनों पार्श्वों को स्वप्न शब्द से कह दिया गया है।

परन्तु जिस अवस्था में इन्द्रियादिकों का बाह्य-जगत् से सम्बन्धविच्छेद तो हो और मन की अन्तर्लीला न हो, उसे हमारे साहित्यमें सुषुप्ति (Sound-Sleep) कहा गया है।

स्वप्न के ये दोनों पहलू दिन में भी हो सकते हैं और रात्रि में भी। परन्तु यदि हम इन दोनोंमें कुछ विभिन्नता दिखाना चाहें, तो इस प्रकार दिखा सकते हैं।

मुख्य स्थान		गौण स्थान	
निद्रा (Sleeping)	इन्द्रियों का बाह्य दुनिया से सम्बन्धविच्छेद	मन की अन्तर्लीला	रात्रिस्वप्न
स्वप्न (Dreaming)	मन की अन्तर्लीला	इन्द्रियों का बाह्य दुनिया से सम्बन्ध-विच्छेद	जाग्रत्स्वप्न

अर्थात् रात्रि में सोते हुए इन्द्रियों का बाह्य जगत् से सम्बन्धविच्छेद अधिक से अधिक मात्रा में होता है और उस अवस्था में मन की अन्तर्लीला गौण होती है। परन्तु जागृतावस्था में इन्द्रियों का बाह्य जगत् से सम्बन्ध-

विच्छेद रात्रि की अपेक्षा कम होता है और मन की अन्तर्लीला प्रधान रूप में होती है। अर्थात् रात्रिमें स्वप्न लेते हुए मन किस प्रकार कार्य करता है, यह बृहदारण्यकोपनिषद् में अच्छी तरह से स्पष्ट किया हुआ है।

रात्रिस्वप्न—

बृहदारण्यकोपनिषद् २ अ० १ ब्रा० १८ में अजातशत्रुने गार्ग्य से यह प्रश्न किया कि, जब यह पुरुष स्वप्नावस्थामें होता है, तब यह विज्ञानमय पुरुष कहां निवास करता है? इस बातको गार्ग्यके न समझने पर अजातशत्रुने कहा कि—

स यत्रैतत् स्वप्नाया चरति ते हास्य लोकास्तदुतेव महाराजो भवत्युतेव महाब्राह्मण उतेवोच्चावचं निगच्छति स यथा महाराजो जानपदान् गृहीत्वा स्वे जनपदे यथाकामं परिवर्ततैवमेवैष एतत् प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते।

अर्थात् जब वह विज्ञानमय पुरुष स्वप्न की इच्छा से विचरण करता है, तब इसके ये ही प्रसिद्ध लोक होते हैं। उस समय कभी वह महाराजाके समान होता है, कभी ऊँच और कभी नीच बन जाता है और जैसे महाराज अपने राज्य के मुख्य आदिमयों को लेकर अपने जनपद में स्वेच्छानुसार घूमता फिरता तथा परिवर्तन करता रहता है, उसी प्रकार यह विज्ञानमय पुरुष इन्द्रियों को लेकर इस शरीर में स्वेच्छानुसार लीला करता रहता है।

इसी प्रकार प्रश्नोपनिषद् में भी ब्रह्मर्षि पैप्पलाद से गार्ग्यने कुछ प्रश्न किये हैं। स्वप्न के संबंधमें भी गार्ग्यने प्रश्न किया है।

वह प्रकरण इस प्रकार है। गार्ग्य पूछता है—

भगवन्नेतस्मिन् पुरुषे कानि स्वपन्ति कान्यस्मिन् जाग्रति कतर एष देवः स्वप्नान् पश्यति?

हे भगवन्! इस पुरुष में कौन तो सोते हैं? कौन जागते हैं और कौनसा देव स्वप्नों को देखता है? इसपर पैप्पलाद ऋषि इस प्रकार बोले—

अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति। यद्दृष्टं दृष्टमनुपश्यति श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुशृणोति देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति दृष्टञ्चादृष्टञ्च श्रुतञ्चाश्रुतं चानुभूतं चाननुभूतं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति। (४ थं प्रश्न)

अर्थात् यह मनरूपी देव स्वप्नमें अपनी महिमा (Self-assertion) का अनुभव करता है। देखे हुए पदार्थोंको फिर देखता है। सुनी हुई बातों को फिर सुनता है। देश-विदेशों तथा नाना दिशाओं में अनुभूत घटना आदि को फिर अनुभव करता है। और दृष्ट, अदृष्ट, श्रुत, अश्रुत, अनुभूत अननुभूत, सत् और असत् सभी प्रकार की बातों को यह सर्वात्मक मन स्वप्न में देखता है।

इस प्रश्नोत्तर में कई रहस्यमय बातों को खोला गया है। यह यह कि यह मन दृष्ट, श्रुत तथा अनुभूत बातोंको स्वप्नमें पुनः देखता ही है, परन्तु कभी कभी अदृष्ट, अश्रुत तथा अननुभूत बातों को भी यह स्वप्न में देख लेता है। अर्थात् यह मनुष्य अपनी मानसिक शक्ति के प्रभाव से उन भूत व भविष्य की बातों को भी पहले ही स्वप्न में देख लेता है, जो कि चर्मचक्षुओं की सीमा से बाहिर है। और इसी प्रकार कर्ण आदि अन्य इंद्रियों से सम्बद्ध बातों को भी यह मन जान लेता है। इस का भाव यह है कि, भूत व भविष्य से सम्बन्ध रखनेवाली, इस जन्म की व अन्य जन्मों की बातों को यह मनुष्य का मन स्वप्नमें जान सकता है।

इस प्रकार रात्रिस्वप्न में मनुष्य के मनपर बुद्धि आदि का कोई नियन्त्रण नहीं होता। कोई युक्ति नहीं, कोई तर्क नहीं, कोई समालोचना नहीं।— क्योंकि बुद्धि आदि अन्य इंद्रियां तब इस रात्रिस्वप्न में सुप्त होती हैं। दिवा-स्वप्नः— जब दूसरी तरफ जाग्रत् स्वप्नमें बुद्धि आदि इंद्रियां पूर्ण रूप से अपना कार्य तो नहीं कर रही होतीं, परन्तु जाग्रत्स्वप्न में भी उन का मन पर कुछ न कुछ नियन्त्रण अवश्य रहता है। यहां युक्ति, समालोचना तथा तर्क का भी स्थान है।

जाग्रत्स्वप्न के सम्बन्ध में महोपनिषद् में बहुत अच्छा स्पष्टीकरण किया हुआ है। यहां आता है

अरूढमथवा रूढं सर्वथा तन्मयात्मकम्।
यज्जाग्रतो मनोराज्यं तज्जाग्रत्स्वप्न उच्यते।
[५ अ० १६ श्लो०]

अर्थात् अरूढ हो अथवा रूढ हो, हर प्रकार से मनुष्य उस विचार में तन्मय हो जावे- जैसे जागते हुए जो मन का राज्य है, वह जाग्रत्स्वप्न कहलाता है।

इस उपर्युक्त श्लोक में दो प्रकार के विचारों की ओर निर्देश है। एक विचार तो रूढ है, अर्थात् जो हम पर चढे हुए हैं, जिनके हम आदि हैं, अभ्यस्त हैं। दूसरे वे विचार जिन के हम आदि व अभ्यस्त तो नहीं हैं, परन्तु अचानक कभी कभी आ जाते हैं। इन दोनों प्रकार के विचारों में यदि हम तन्मय हो जावें, तो वह हमारी अवस्था जाग्रत्स्वप्न की होती है। रात्रिस्वप्न की अपेक्षा इस में, बुद्धि व समालोचना आदि का कुछ थोडाबहुत स्थान अवश्य होता है। परन्तु जाग्रत्स्वप्न की मुख्य शर्त यह है कि, मनुष्य जिन विचारों में लगा हुआ है, उन में वह तन्मय हो। माण्डूक्योपनिषद् की व्याख्या करते हुए पं. गुरुदत्तजीने इसी स्वप्नस्थान को (Contemplative phase) कहा है।

ऋ. १०।१६४।५ में भी जाग्रत्स्वप्न को संकल्प कहा गया है। वहां आता है, "जाग्रत्स्वप्नः संकल्पः" अर्थात् जाग्रत्स्वप्न संकल्प होता है। संकल्प मानसिक कर्म मानसिक विचारधारा को कहते हैं। इस में केवल मनोव्यापार ही होता है। इस प्रकार वेद और उपनिषद् आदि जाग्रत्स्वप्न का रूप– संकल्प करना, विचारधारा में तन्मय हो जाना– इत्यादि मानते हैं।

दिनमें जागते हुए साधारण मनुष्य भी जब बाह्य दुनिया से सम्बन्ध तोडकर कल्पना के घोडे दौडाने लगता है, तब वह स्वप्नावस्था में होता है। इसको जाग्रत् स्वप्न (Day Dream) कहते हैं। जिन मनुष्यों का दिन का जीवन विश्रान्तिमें ही बीतता है, इन्द्रियादिकों का कोई उपयोग नहीं होता, तो समझ लो वे स्वप्न में विचर रहे हैं और जो मनुष्य इन्द्रियादिकों का निरन्तर पूर्ण उपयोग करते हैं, विश्रान्तिका उनके पास प्रायः कोई समय नहीं होता, तो वे निश्चय से कर्मयोगी हैं, और स्वप्न से नितान्त दूर हैं। हम देखते यह हैं कि, मनुष्य जिसे जागृतावस्था कहता है, उसमें भी वह जागृत नहीं होता। मनुष्य यह समझता है कि, मैं देख रहा हूँ, परन्तु वास्तविकता यह है कि, वह देख नहीं रहा होता। देखते हुए भी वह चक्षुइन्द्रिय का पूर्ण उपयोग नहीं कर रहा होता। एक प्रकार से प्रायः सब मनुष्य जागृत व स्वप्न की (Mixed) मिश्रित अवस्था में विचरते हैं। इंद्रियों के अपूर्ण उपयोग से जो हमें एकांगीय दर्शन व मिथ्या दर्शन होता है, उसके आधार पर कल्पना आदि मन की क्रीडा भी अपूर्ण होती है।

मन की अन्तर्क्रीडा भी ज्ञान के आधार पर कई प्रकार की हो सकती है। स्थूल रूप से हम उसके तीन विभाग कर सकते हैं। एक साधारण मनुष्यकी, दूसरे ज्ञानी मनुष्य की और तीसरे योगी मनुष्य की। साधारण मनुष्य की दिवास्वप्न की अवस्था आपत्ति के व कष्ट के होनेपर या किसी प्रसंग के आ जाने पर आपाततः स्वयं हो जाती है। परन्तु ज्ञानी व योगी मनुष्य स्वयं यह अवस्था पैदा भी करते हैं। ज्ञानी मनुष्य भी जब कभी किसी गम्भीर विषय, गम्भीर स्कीम या किसी पदार्थ आदि के निर्माण से पहले उसकी रूपरेखा पर विचारप्रारम्भ करता है, तब उसे भी स्वप्नावस्था में पहुंचना पडता है। कल्पना के घोडे दौडाने पडते हैं। उस समय उसकी कल्पनाशक्ति बुद्धि के नियन्त्रण समालोचना आदि से नितान्त दूर होती है। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि, वे अन्त तक निरे कल्पना के खेल ही बने रहें। वे वास्तविकता में भी परिणत हो सकते हैं। स्वप्नावस्था में जब मनुष्य किसी गम्भीर विषय का ढांचा निर्माण करता है, उसको जब बुद्धि की कसौटी पर कसता है अथवा वास्तविकता में परिणत करता है। तब वह स्वप्नावस्था से ऊपर होता है।

साधारण मनुष्य और ज्ञानी मनुष्य में यही विभिन्नता है कि, साधारण मनुष्य अपने स्वप्नों को निरी कल्पनाकी खेल बना रहने देता है। उसे परवाह नहीं कि ये बुद्धि-प्रतिकूल हैं कि नहीं, क्रिया में परिणत होते हैं कि नहीं, वे प्रायः (Day Dreams) दिवास्वप्न ही बने रहते हैं। परन्तु ज्ञानी मनुष्य अपने स्वप्नों को बुद्धि से परखकर क्रिया में परिणत कर देता है और योगी मनुष्य की स्वप्नावस्था तो ज्ञानी मनुष्य से भी उत्कृष्ट व सर्वांङ्गपूर्ण होती है। उसकी स्वप्नावस्था से उसकी सचाई का प्रकटन होता है। इसलिये बुद्धिप्रतिकूलता का वहाँ कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

रात्रिस्वप्न तो किसी के लिये भी अभीष्ट नहीं है। रात्रि में तो पूर्ण सुषुप्ति ही होनी चाहिये, ऐसा वैदिक शास्त्रों का मत है। परन्तु दिवास्वप्न की अवस्था साधारण मनुष्य के लिये तो बहुत हानिकर है। परन्तु ज्ञानी व योगी मनुष्य

के लिये यह अत्यन्तावश्यक है। क्योंकि उत्कृष्ट ज्ञानप्राप्ति का यह सर्वोत्तम साधन है। इसमें ज्ञानी व योगी मनुष्य अपनी इंद्रियों को बाह्य विषयों से हटाकर अन्तर्मुख करता है, जिस से कि एकाग्रचित्त होकर खूब अच्छी तरह से इस विषय पर ऊहापोह इत्यादि कर सकता है।

१. माण्डूक्योपनिषद् में चतुष्पाद् ओंकार की व्याख्या करते हुए जाग्रत् स्वप्न, सुषुप्ति स्थानोंको दर्शाते हुए स्वप्न-स्थान की इसी प्रकार से व्याख्या की है।

स्वप्नस्थानोऽन्तः प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशति-मुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः।

यहांपर हम केवल ' अन्तःप्रज्ञ ' की व्याख्या करते हैं। ' अन्तःप्रज्ञ ' अर्थात् स्वप्नस्थान में पहुंच कर मनुष्य की प्रज्ञा अन्तर्मुख हो जाती है। जाग्रत् अवस्थामें मनुष्य के मनका इंद्रियों द्वारा बाह्य जगत् से संबन्ध था, इसलिये प्रज्ञा भी बाह्य विषयक थी। परन्तु स्वप्नावस्था में इंद्रियों के लुप्त हो जाने या कार्य न करने से मन अन्दर की ओर जाता है, और संस्कारों को उठा रहा देखता है, इसलिये उस समय प्रज्ञा भी तत्सम्बन्धी होती है। मन जो भी संस्कार दर्पणरूप प्रज्ञा के सामने लायेगा, वही प्रकाशित होगा। प्राय मन की प्रवृत्ति तो यही है कि, वह निकट भूत के संस्कार ही प्रज्ञा के सामने लाता है, परन्तु विशेष अवस्था में अन्य जन्मों के संस्कार भी प्रज्ञाके सामने लाकर प्रकाशित कर सकता है और फिर अन्तःप्रज्ञ का भाव यह भी तो हो सकता है कि, प्रज्ञा अन्तर्मुख होकर आन्तरिक शक्तियों आत्मा या आत्मा में स्थित परमात्मा को भी प्रकाशित कर सकती है।

प्रज्ञारूपी दर्पण का मुख जिस तरफ होगा, वह उसीको प्रकाशित करेगा। इस प्रज्ञारूपी दर्पण का मुख आत्मा की तरफ कर दें, तो आत्मा प्रकाशित होगा, परमात्मा की तरफ कर दें, तो परमात्मा प्रकाशित हो जायेगा। परन्तु किस अवस्था में सामान्य संस्कार प्रकाशित होते हैं और किस अवस्था में आत्मा या परमात्मा प्रकाशित हो सकते हैं- यह अन्तर्मुख पर आश्रित है। रात्रि में मन और प्रज्ञा बहुत ही कम अन्तर्मुख होते हैं, इसलिये सामान्य निकट भूत के संस्कार ही प्रकाशित होते हैं। इसी प्रकार दिन में भी जितना एकाग्र होकर मन और प्रज्ञा को अन्तर्मुख करेंगे, उतना ही विषय का रहस्य स्पष्ट होगा और इसी अन्तर्मुख की अवस्था को बढाते बढाते यदि हम समाधि-अवस्था तक पहुचा दें, तो आत्मा और परमात्मा भी प्रकाशित हो सकते हैं। इसी स्वप्नस्थानके अन्तिम (Extreme) रूप को समाधि कहते हैं। इसलिये स्वप्नस्थान में पहुंच कर मनुष्य की अन्तःप्रज्ञावस्था में सामान्य संस्कार, जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार, पदार्थों के रहस्य तथा आत्मा या परमात्मा भी प्रकाशित हो सकते हैं। इस माण्डूक्योपनिषद् में स्वप्न के सामान्य रूप का दिग्दर्शन तो होता ही है, परन्तु स्वप्न के अन्तिम (Extreme) रूप पर ज्यादः बल दिया गया है। वहां स्वप्नस्थान में पहुंचने का फल ज्ञानप्राप्ति व ब्रह्मवित् होना तक बताया गया है।

संक्षेप में वहाँ मनुष्य के स्वप्नस्थान में पहुंचने का फल इस प्रकार दर्शाया है।

" स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिं समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद "

अर्थात् यह स्वप्नस्थान केवलमात्र मनोव्यापार होने के कारण तैजस है। क्योंकि मन तैजस है, वेद में मन को " ज्योतिषां ज्योतिः " अर्थात् ज्योतियों का भी ज्योति कहा है। जिस प्रकार अकार से अगला स्थान उकार का है, उसी प्रकार जागृत स्थान से अगली स्थिति स्वप्नस्थानकी आती है और जिस प्रकार उकार, अकार और मकार के मध्य में होने के कारण दोनों से सम्बद्ध है, उसी प्रकार स्वप्नस्थान जागृत और सुषुप्ति के मध्य का स्थान है, दोनों से सम्बन्ध रखता है, इस स्वप्नस्थान का फल यह दिखाया है कि, " उत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिम् " अर्थात् स्वप्नस्थान में पहुंचकर मनुष्य ज्ञान का उत्कर्ष व विस्तार करता है और फिर यह कहा है कि, " नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद " अर्थात् जो इस स्वप्न-स्थान के रहस्य को जानता है, उस के कुल में कोई भी अब्रह्मवित् अर्थात् अज्ञानी नहीं पैदा होता।

इस प्रकार ज्ञानी व योगी मनुष्य के स्वप्नस्थान के रहस्य को जानने का माण्डूक्योपनिषद् में वह फल बताया गया है कि, वह ज्ञानकी वृद्धि करता है। वेद में भी ज्ञान-विज्ञान का चारों ओर प्रचार करनेवाले मेधावी ऋभुओं

को "ससन्तः"[1] और "सुषुप्वांसः"[2] कहा है। अर्थात् वे सोते हैं, स्वप्न लेते हैं। किसलिये ? ज्ञान के आतिथ्य के लिये। इसलिये ज्ञानी मनुष्यों को ज्ञानवृद्धि में स्वप्नावस्था अत्यन्त उपयोगी है।

कई यह शंका कर सकते हैं कि, स्वप्न शब्द बुरे ही अर्थों में प्रयुक्त होता है, तो यह ठीक नहीं। वेद में स्वप्न शब्द अच्छे व बुरे दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। उदाहरण के तौर पर अथर्व० ११।८।९ मन्त्र है। इसमें स्वप्न को बुरा बताया है। वहाँ आता है, "स्वप्नो वै तन्द्रीः" अर्थात् स्वप्न तन्द्रावस्था अर्थात् आलस्य की अवस्था को कहते हैं। जो मनुष्य सदा आलस्य की अवस्था में पडे रहते हैं, उनको स्वप्न कभी भी अच्छे नहीं आ सकते। स्वप्न के इसी तन्द्रीरूप के निवारण के लिये ऋ. ८।२।१८ में इस प्रकार कहा है कि:—

"इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तम् न स्वप्नाय स्पृहयन्ति"

अर्थात् देव सवन करनेवाले की तो इच्छा करते हैं, परन्तु स्वप्न अर्थात् आलस्य के लिये उनकी कोई चाहना नहीं। बुरे स्वप्नों का मुख्य रूप से वर्णन आगे किया ही जायेगा। इस प्रकार वेदमें बुरे स्वप्नोंका निषेध किया गया है और अच्छे स्वप्नों के सम्बन्ध में वेदमें इस प्रकार कहा है कि—

"देवानां पत्नीनां गर्भ यमस्य कर यो भद्रः स्वप्नः स मम यः पापस्तद्द्विषते प्रहिण्मः०" (अ १९।५७।३)

अर्थात् जो स्वप्न देवपत्नियों का गर्भरूप है और नियन्त्रण करनेवाला और बुराइयों का विनाश करनेवाला है, वह भद्र है, वह स्वप्न मेरा है और जो स्वप्न पापरूप है, उसे हम शत्रु के लिये भेजते हैं। इस प्रकार वेद में अच्छे व बुरे दो प्रकार के स्वप्नों का वर्णन मिलता है।

मानसिक शक्ति।

इस से पहले कि, वेदमन्त्रों के आधार पर स्वप्न के सम्बन्ध में कुछ कहा जाय, हमें वेदमंत्रों में प्रतिपादित स्वप्न के स्वरूप, क्षेत्र व विस्तार आदि के स्पष्टीकरण के लिये अथवा उन पर ऊहापोह करने के लिये मन की शक्ति पर भी कुछ विचार कर लेना चाहिये। क्योंकि स्वप्न मन की लीला है, एक क्रिया है।

यजुर्वेद के ३४ वें अध्याय के प्रथम ६ मंत्रों में मन की शक्तियों का संक्षेप में दिग्दर्शन कराया गया है। उन मंत्रों के आधार पर मानसिक शक्ति का कुछ विवेचन किया जाता है। प्रथम मंत्र इस प्रकार है—

ओ३म् यज्जाग्रतो दूरमुदेति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति। दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।　　(यजु. ३४।१)

अर्थात् देवोंवाला यह दिव्य मन जागृतावस्था में दूर निकल जाता है और इसी प्रकार सुप्तावस्था में वह दूर चला जाता है। वह दूर जानेवाला मन ज्योतियों का ज्योति अर्थात् इन्द्रियादिकों का प्रकाशक है। ऐसा वह मेरा मन शिवसंकल्पवाला हो।

आइये ! अब हम कुछ विस्तार से इस मन्त्र का स्पष्टीकरण करते हैं। मन्त्र में कहा है कि, "यज्जाग्रतो दूरमुदेति" अर्थात् मनुष्य का मन जागृतावस्था में दूर तक निकल जाता है। अब विचारणीय यह है कि, यहाँ पर दूरी का क्या भाव है ? इस पर गम्भीरता से विचार करने पर हम यह कह सकते हैं कि, मनुष्य के मन की जाने की दूरियां तीन प्रकार की हो सकती हैं, जो कि, निम्न प्रकार है–

१. पदार्थ के रहस्यावबोधन की दूरी।
२ स्थान (Space) की दूरी।
३. काल (Time) की दूरी।

१. किसी पदार्थ का रहस्याऽवबोधन करते हुए उस के अन्तिम तथ्य तक पहुंच जाना यह पदार्थके रहस्यावबोधन की दूरी हो सकती है।
२. दूसरे चर्मचक्षुओं की सीमा से नितान्त दूर परम लोक तक का भी निरीक्षण करना यह स्थान की दूरी कहला सकती है।
३. तीसरे दूर से दूर भूत व भविष्य का ज्ञान प्राप्त करना काल की दूरी कहलाती है।

ये तीनों प्रकार की दूरियां मन का क्षेत्र हैं। परन्तु इन दूरियों को छोटा करना या विस्तृत करना अथवा निकृष्ट बनाना या उत्कृष्ट बनाना मनुष्य के मन की सामर्थ्य व शक्ति पर निर्भर है। एक साधारण मनुष्य के मन की ये

---

[1] देखो (ऋभु देवता नामक पुस्तक) १ ऋ. ४।३३।७ २ ऋ. १।१६१।१३,

तीनों दूरियां बहुत ही छोटी व निकृष्ट रूप की होती हैं। इस के विपरीत ज्ञानी मनुष्य के मन की ये दूरियां बहुत विस्तृत हो जाती हैं। परन्तु योगी अर्थात् ऋषि-महर्षि की ये ही तीनों दूरियां पदार्थके अन्तिम तथ्यरूप, भूतभविष्य के प्रायः अन्तिम छोर व परम पिता परमात्माके परम धाम तक पहुंच जाती हैं। कहने का भाव यह है कि, साधारण मनुष्य का मन बहुत ही सबके क्षेत्र में विचरता है। इस का तीनों प्रकार का क्षेत्र बहुत ही छोटा होता है। इसके विपरीत ज्ञानी व योगी मनुष्य के मन के विचरण का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत होता चला जाता है। इससे मन्त्र यह सिद्ध कर रहा है कि ब्रह्माण्ड में कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं, जहाँ कि, मनुष्य का मन न पहुंच सकता हो।

हमारी उपर्युक्त स्थापना की पुष्टि यजु० ३४।४ का मन्त्र भी कर रहा है। वह मन्त्र इस प्रकार है।

" येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम् "

अर्थात् जिस अमृतरूप मनने इन सम्पूर्ण भूत, वर्तमान और भविष्यत् को सब प्रकार से चारों ओर संग्रहण किया हुआ है।

इस उपर्युक्त मन्त्रमें मनकी आत्यधिक अद्भुत शक्ति का परिचय मिलता है। मंत्र यह बताता है कि, भूत, वर्तमान और भविष्यमें जो कुछ भी विद्यमान है, वह सब मन का क्षेत्र है। कई इसपर यह कह सकते हैं कि, इस मन्त्रभाग से मनुष्यके मन्त्र की किसी विशेष अद्भुत शक्ति का कोई परिचय नहीं मिलता। यह मन्त्र तो मनके सामान्य स्वभाव का वर्णन करता है। जैसा कि हम यह देखते हैं कि, मनुष्य इतिहास आदि साधनों द्वारा कुछ भूत का ज्ञान प्राप्त कर लेता है और वर्तमान राजनैतिक, सामाजिक आदि परिस्थितियों को सामने रखकर भविष्य के संबंध में भविष्य-वाणियां भी कर देता है। इसलिये मन्त्र का इतना ही तात्पर्य है कि, मनुष्य के मन में यह शक्ति है कि, वह भूत व भविष्यके सम्बन्धमें कुछ कह सके। इसपर हमारा निवेदन यह है कि, भूत, वर्तमान व भविष्यके सम्बन्ध में मन कितना परिचय प्राप्त कर सकता है, इस सम्बन्ध में मन्त्र तो सर्वम् शब्द से यही बताता है कि, वह इन तीनों कालों में होनेवाली सब बातों का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। यदि हम यह स्थापना न मानें, तो सर्वम् शब्दके मन्त्र में आने का कोई प्रयोजन ही नहीं, दिखाई देता। वह शब्द व्यर्थ हो जाता है, दूसरे मन्त्र में मन को 'अमृतेन' पदसे निर्देश किया गया है, अर्थात् मन अमर है। यहाँपर मन को अमर बताने में भी एक रहस्य है, और वह यह कि भूत व भविष्यकाल से इसी जन्म का ही नहीं अपि तु जन्मजन्मान्तरोंका ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि 'अमृतेन' पद की सार्थकता भी तभी है। जब कि भूत व भविष्य से जन्म जन्मान्तरों का ग्रहण किया जावे।

इस प्रकार वेदमन्त्र यह स्पष्ट निर्देश कर रहा है कि, भूत व भविष्य में विद्यमान सब बातों का ज्ञान मनुष्य का मन कर सकता है।

इस प्रकार 'यज्जाग्रतो दूर मुदैति' अर्थात् जागृतावस्था में मनुष्यका मन बहुत दूर दूर तक जाता है– इस मन्त्रांशका भाव हमने ऊपर स्पष्ट किया। अब अगले मन्त्रांशका भाव भी स्पष्ट करते हैं। वह निम्न प्रकार है– 'तदु सुप्तस्य तथैवैति' अर्थात् मनुष्यका वही मन सुप्तावस्थामें भी उसी प्रकार दूर दूर तक जाता है। यह मन्त्रांश भी दोएक बातोंकी तरफ निर्देश कर रहा है। एक तो यह कि सोते हुए मनुष्य अवश्य ही स्वप्न ले रहा होता है। सोते हुए भी मनुष्य का मन एक क्षणके लिये भी खाली नहीं बैठता। 'तथैव' शब्द हमारी इस उपर्युक्त स्थापनाकी और भी पुष्टि कर रहा है।

दूसरे इस मन्त्र से एक और भी बात पता चल रही है और वह यह कि मनुष्य के मन का बाह्य जगत् से संबन्ध एक तो इंद्रियादि द्वारा होता है, और दूसरे स्वतंत्र रूप से होता है। वहाँ इंद्रियों रूपसाधनों की भी अपेक्षा नहीं है। क्योंकि सुप्तावस्था में इन्द्रियादि सब सुप्त हो जाती हैं, परन्तु मन तब भी बाहिर की ओर जाता है। इस से स्पष्ट है कि, वह उनके बिना भी बाहिर जा सकता है। जाग्रत् स्वप्न में पदार्थों के रहस्यों तथा अन्तिम सचाइयों का निर्णय तो होता ही है, परन्तु रात्रि स्वप्न में भी मनुष्य कभी कभी गूढ रहस्यों को ढूंढ निकालता है। और कभी न देखे हुए दूर देशस्थ स्थानों व घटनाओं आदि का सच्चा चित्र मनपर अंकित हो जाता है। दूसरे मनुष्यके मन का अन्तर्जगत् इतना विस्तृत है कि, पिछले सब जन्म जन्मान्तरों के संस्कार इस में सन्निहित हैं। इसी अन्तर्ज-

जांच पड़ताल करता हुआ वह बहुत दूर तक जा सकता है। आगे मनको फिर "दूरङ्गमं" बताया गया है। अर्थात् वह मन दूरतक जानेवाला है। यहाँ एक शंका पैदा होती है कि, मनके दूर तक जानेका भाव 'दूरमुदैति' इससे स्पष्ट था, फिर जो 'दूरङ्गमम्' ऐसा पढा, इस से यह स्पष्ट पता चल रहा है कि, मनकी दौड थोडी दूर तक नहीं, बहुत दूर तक समझनी चाहिये। इसी बात पर जोर देनेके लिये मन्त्र बार बार मनके दूर जानेकी ओर निर्देश कर रहा है।

दूसरा भाव यह भी हो सकता है कि, 'दूरङ्गम' यह विशेषण 'ज्योतिषां ज्योतिः' के साथ संबंध रखता है। अर्थात् वह मन दूर दूर तक जानेवाला है। क्या प्रयोजन? अर्थात् दूर से दूर विद्यमान जो ज्योतियां हैं, उनको भी यह प्रकाशित करता है। वे ज्योतियां चाहे वह परमात्मा ही क्यों न हो या परमात्मा की सृष्टि के किसी कोने में विद्यमान कोई प्रकाशपुञ्ज ही क्यों न हो– उसको भी यह हमारे अन्दर प्रकाशित करता है। हमारे लिये तो वे अन्धकार ही है। उनको हमारे में प्रकाशित करना मनका एक गुण है। और पदार्थों को प्रकाशित करनेवाली इंद्रियों को भी यही मन प्रकाशित करता है। इस प्रकार वेदने मन का यह गुण बताया है कि, जो औरों को प्रकाशित करनेवाली ज्योतियां हैं, उन का हमारे अन्दर प्रकाश मनद्वारा ही होता है। आगे एक मन्त्र में कहा है कि–

"सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव" (यजु. ३४।६)

अर्थात् जिस प्रकार उत्तम सारथि घोडों को अपने अभीष्ट मार्ग की ओर ले जाता है और लगामद्वारा उन को अपने नियन्त्रण में रखता है, उसी प्रकार यह मन मनुष्यों को अपने नियन्त्रण में रखता हुआ जिधर चाहता है, उधर ले जाता है।

इस प्रकार उपर्युक्त मन्त्रोंद्वारा हमने मानसिक शक्ति का संक्षेप से दिग्दर्शन कराया। परन्तु वास्तव में मन क्या वस्तु है? उस की शक्तियों का अक्षय भण्डार कितना है? उस की पहुंच कहाँ तक है? इत्यादि बातों का स्पष्टरूपेण चित्रण करना बहुत कठिन है। लौकिक शब्दों में यदि हम कुछ कहना भी चाहें, तो यों कह सकते हैं कि, मन एक ऐसा व्यापक पर्दा है, जिस का कोई ओर छोर नहीं, जिस पर सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर जन्मजन्मान्तरों के अनुभव अंकित होते आये हैं और भविष्य में होनेवाली घटनाओं को भी जो आसानी से देख सकता है।

परन्तु यहाँ प्रश्न होता है कि, यदि सम्पूर्ण विगत जन्मों में होनेवाले अनुभवों के संस्कार मनरूपी पर्दे पर अंकित होते हैं, तो वे स्मरण क्यों नहीं होते? इस का उत्तर सामान्य भाषा में इस प्रकार हो सकता है कि, मन एक निरन्तर कार्य करनेवाला तत्त्व है, हमारा बाह्य दुनिया से इतना अधिक व घनिष्ठ सम्बन्ध है कि, रात और दिन में कोई भी ऐसा समय नहीं जब कि, हमारे मन का बाह्य दुनिया से पूर्णतया सम्बन्ध-विच्छेद हो जाये। बाह्य दुनिया के अतिथि निरन्तर हमारे अन्दर प्रविष्ट हो रहे हैं, जिन के आवभगत करने में ही मन सदा लगा रहता है। इसी कारण अपने अन्तस्तल की पड़ताल करने की उसे फुरसत ही नहीं। और फिर दिन के हमारे अनुभवों के संस्कार-चित्र इतने गहरे होते हैं कि, रात्रि को सोते हुए भी वे हमारे सामने होते हैं। मन इन्हीं के झगडे निपटाने में लगा रहता है। विगत अनुभवों के संस्कारों के उद्बोधन न करने के कारण वे विस्मृत हो जाते हैं। इसलिये मन को इसी जन्मकी निकट भूत की बातें भी स्मरण नहीं रहती, अतीतजन्मों की तो बात ही अलग रही। योगियों को विगत जन्मजन्मान्तरों के पिछले अनुभव क्यों स्मरण हो जाते हैं? इस का कारण ही यह है कि, उन का बाह्य दुनिया से सम्बन्ध उतनी ही मात्रा में होता है कि, जितना उचित है।

उन की संसार में स्थिति "पद्मपत्रमिवाम्भसः" जल में कमल के पत्ते की न्याईं होती है। उन का मन पर नियन्त्रण होता है। बाह्य दुनिया के झगडों में फंसने का वे मन को अवसर ही नहीं देते। इसलिये अन्त में उसे अन्दर की ओर दौडना पडता है। वह विगत जन्मों के संस्कारों को उठा उठा कर देखता है और उन्हें उलटता-पुलटता रहता है। अन्दर की एक एक चीज की वह पड़ताल करता है। आन्तरिक गुफाओं में चाहे आत्मा छिपा पड़ा हो, या परमात्मा हो, सब को समक्ष (Front) में ला खड़ा करता है। यह है मन की शक्ति और योगियों के विगत जन्मोंके संस्मरणका रहस्य। महर्षि पतञ्जलिने भी अपने योगदर्शनमें यही बात स्वीकार की है। कहा जाता है।

" संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम् "

अर्थात् संस्कारों के साक्षात्कार करने से पूर्वजन्मों का ज्ञान हो जाता है। इस से भी यह स्पष्ट है कि, मन पर अंकित बातें कभी भी विनष्ट नहीं हुवा करतीं। उनको हम जब चाहें, तब उद्‌बुद्ध कर सकते हैं। इसी प्रकार स्वप्नावस्था भी संस्कारों को साक्षात् करने का एक बहुत उत्तम साधन है। योगी पुरुषों के संस्कार, साक्षात्कार में तथा सामान्य मनुष्यों के स्वप्नावस्था में होनेवाले संस्कारों के साक्षात्कार में विभिन्नता यह है कि, योगी का मन के ऊपर नियन्त्रण होता है, और वह जहां चाहता है, वहां उसे ले जाता है। परन्तु सामान्य मनुष्य का मन पर कोई नियन्त्रण नहीं होता। मन अपने स्वाभाविक गुण के कारण असम्बद्ध व ऊटपटांग संस्कारों को उद्‌बुद्ध करता है।

यदि हम चाहें तो मन पर नियन्त्रण रखकर स्वप्नावस्था को पूर्वसंस्कार साक्षात्कार करनेमें उपयोगी बना सकते हैं। वैदिक शास्त्रों के आधार पर हम यहां तक कह सकते हैं कि, मनुष्य चाहे, तो वह अन्तस्तल की पडताल करके प्रायः सभी प्राणियों के स्वभाव, भाषा, तथा कार्य आदि का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। क्योंकि वह प्रायः सभी प्राणियों की योनियोंमें जन्म ले चुका होता है। उसके मन पर सब योनियों के स्वभाव, कार्य आदि के संस्कार अंकित होते हैं। केवल इतना ही नहीं वह अन्तर्मुख होकर संपूर्ण ब्रह्माण्ड का ज्ञान प्राप्त कर सकता है, क्योंकि कभी न कभी वह सारे ब्रह्माण्ड की परिक्रमा कर चुका है।

इस प्रकार मन एक महती शक्ति है। विगत जन्मों के संस्कार इस पर अंकित होते हैं। इसलिये इस में कोई आश्चर्य नहीं कि, कभी कभी रात्रि में सोते हुए साधारण मनुष्य को भी कई ऐसे सम्बद्ध स्वप्न दिखाई दे जाते हैं, जिन का सम्बन्ध इस जन्म की घटनाओं से नहीं होता। वेद भी इस बातको स्वीकार करता है। जैसा कि, अथर्व० १९।५६।२ में कहा है कि- " बन्धस्त्वाग्रे विश्वचया अपश्यत् पुरा रात्र्या जनितोरेके अन्हि " अर्थात् बन्धन के कारणभूत तथा विश्व का सञ्चय करनेवाले मनने हे स्वप्न! तुझ को (रात्र्याः पुरा) रात्रि से पहले किसी दिन अथवा (जनितोः पुरा) इस जन्म से पहले किसी दिन देखा था, (घटनारूप में अनुभव किया था)।

इस प्रकार वेद भी विगत जन्मों के संस्कारों का स्वप्न में उद्‌बुद्ध होना स्वीकार करता है। योगी पुरुष तो विगत जन्मों के संस्कारों को जागृतावस्था में ही मन को एकाग्र करके जब चाहे और जितना चाहे, उद्‌बुद्ध कर सकता है। वह इसके अपने अधीन है। परन्तु सामान्य मनुष्य के भूत के संस्कारों का उद्बोधन यदि कभी होता भी है, तो वह प्रायः रात्रि में स्वप्नावस्था में ही होता है और वह भी किसी विरले मनुष्य को ही होता है। विगत जन्मों के कोई कोई संस्कार किसी किसी को स्वप्नमें क्यों दृष्टिगोचर होते हैं। सबको क्यों नहीं होते ? इन संस्कारों के उद्बोधन में क्या क्या नियम काम करते हैं। इत्यादि स्वप्नसम्बन्धी अनेक बातें विचारणीय हैं।

इसी प्रकार भविष्यमें होनेवाली घटनाओं के भी स्वप्न दिखाई दे जाते हैं। ये क्यों आते हैं ? इनमें क्या सिद्धान्त काम कर रहा है, इत्यादि बातें भी विचारणीय हैं।

भविष्यसम्बन्धी स्वप्नों के अस्तित्व से हम इस निर्णय पर तो अवश्य पहुंच सकते हैं कि, भविष्य में होनेवाली घटनाओं का उन के घटित हो जाने से पहिले ही स्वप्नमें ज्ञान हो जाना-- इस बातको सिद्ध करता है कि, ज्ञानप्राप्ति में यह आवश्यक नहीं कि, इंद्रियादि साधन अवश्य ही हो ! क्योंकि स्वप्न में जो हमें भविष्यसम्बन्धी ज्ञान हो जाता है, वहां तो स्पष्ट ही है कि, किसी संस्कार का उस में हाथ नहीं और नाहीं इंद्रियों का उस में हाथ है। वह तो सीधा मानसिक ज्ञान है। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि, इंद्रियादि साधनोंके विना भी हम मानसिक शक्ति के द्वारा ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इसके साथ हमें इस बात का भी ख्याल रखना चाहिये कि, इन्द्रियादि साधनों द्वारा प्राप्त किया गया ज्ञान अवश्य ही ठीक हो-- यह नहीं हो सकता। इस में त्रुटि की बहुत अधिक सम्भावना होती है। परन्तु यदि इंद्रियादि साधनोंका अवलम्बन न करके किसी वस्तु के संबंध में केवल मन के द्वारा ज्ञान प्राप्त हो सके, तो वह बहुत अंश में सत्य होगा। इसलिये स्वप्न में भी जो हमें ज्ञान होता है, उस में जहां असत् की पराकाष्ठा है, वहां सत् की भी पराकाष्ठा हो सकती है। इसलिये जैसे मानसिक शक्ति का ठीक ठीक चित्रण करना कठिन है, उसी प्रकार मनकी क्रियारूप स्वप्न का चित्रण करना भी दुःसाध्य है। इस प्रकार स्वप्न के सम्बन्ध में अभी अनेकों समस्याएँ ऐसी हैं, जो कि विचारणीय हैं।

विशो वै **मरुतः** । श० ३.९।१।१७
मारुतो हि वैश्यः । तै० २।७।२।२ [काठ० ३७।४]
पशवो वै **मरुतः** । ऐ० ३।१९ [काठ० २१।३६;
३६।२,१६]
अन्नं वै **मरुतः** । तै० १।७।३।५; १।७।५।२; १।७।७।३
प्राणा वै **मारुताः** । श० ९।३।१।७
मारुता वै ग्रावाणः । तां ९।९।१४
मरुतो वै देवानामपराजितमायतनम् । तै० १।४।६।२
अप्सु वै **मरुतः** शिताः (श्रिताः) । कौ० ५।४
अप्सु वै **मरुतः** श्रितः (श्रिताः) । गो० उ० १।२२
आपो वै **मरुतः** । ऐ ६।३०; कौ० १२।८
मरुतोऽद्भिरग्निमतमयन् । तस्य तान्तस्य हृदयमच्छिन्दन्
साऽशनिरभवत् । तै० १।१।३।१२
मरुतो वै वर्षस्येशते । श० ९।१।२।५ [काठ. ११।१२]
षड्भिः पार्जन्यैर्वा **मारुतै**र्वा वर्षासु । श० १३.५।४।२८
इन्द्रस्य वै **मरुतः** । कौ० ५।४.५
अथैनं (इन्द्रं) ऊर्ध्वायां दिशि **मरुत**श्चाङ्गिरसश्च देवा .
...अभ्यषिञ्चन् ..पारमेष्ठ्याय महाराज्यायाधिपत्याय स्वाव-
श्यायाऽऽतिष्ठाय । ऐ० ८।१९
हेमन्तेनर्तुना देवा **मरुत**स्त्रिणवे (स्तोमे) स्तुतं बलेन शक्वरीः
सहः । हविरिन्द्रे वयो दधुः । तै० २।६।१९।२
मारुतो वत्सतर्यः । ता० २१।१४।१२
पङ्क्तिश्छन्दो **मरुतो** देवता ष्ठीवन्तौ । श० १०।३।२।१०
मरुत्स्तोमो वा एषः । ता० १७।१।३
मरुतो ह वै क्रीडिनो वृत्रꣳहनिष्यन्तमिन्द्रमागतं तमभितः
परि चिक्रीडुर्महयन्तः । श० २।५।३।२०
ते (मरुतः) एनं (इन्द्रं) अभ्यक्रीडन् । तै० १।६।७।५
इन्द्रस्य वै **मरुतः** क्रीडिनः । कौ० ५।५
इन्द्रो वै **मरुतः** क्रीडिनः । गो० उ० १।२३
मरुतो ह वै सान्तपना मध्यन्दिने वृत्रꣳसन्तेपुः स सन्तप्तो-
ऽनन्नेव प्राणन् परिदीर्णः शिश्ये । श० २।५।३।३
इन्द्रो वै **मरुतः** सान्तपनः । गो० उ० १।२३
घोरा वै **मरुतः** स्वतवसः । कौ० ५।२; गो०उ० १।२०
प्राणा वै **मरुतः** स्वापयः । ऐ० ३।१६
सवनततिर्वै **मरुत्वतीय**ग्रहः । कौ० १५।१
पवमानोक्थं वा एतद्यन्**मरुत्वतीयम्** । ऐ० ८।१;
कौ० १५।२
तदेतद्वार्त्रघ्नमेवोक्थं यन्**मरुत्वतीय**मेतेन हेन्द्रो वृत्रमहन् ।
कौ० १५।२

तदेतत्पृतनाजिदेव सूक्तं यन्**मरुत्वतीय**मेतेन हेन्द्रः पृतना
अजयत् । कौ० १५।३
अथैष **मरुत्**स्तोम एतेन वै **मरुतो**ऽपरिमितां पुष्टिमपुष्य-
न्नपरिमितां पुष्टिं पुष्यति य एवं वेद । तां १९ १४।१
अन्तरिक्षलोको वै **मारुतो मरुतां** गणः । श० ९।४।२।६
तद्ध सर्वं **मरुत्वतीयं** भवति । ऐ ३।१६
वृष्टिवनिपदं **मरुत** इति **मारुत**मन्यंनमिहे । ऐ. ३।१८
मरुत्वतीयं प्रगाथं शंसति, **मरुत्वतीयं** सूक्तं शंसति,
मरुत्वतीयां निविदं दधाति, **मरुतां** सा भक्तिः
मरुत्वतीयमुक्थं शस्त्वा **मरुत्वतीय**या यजति ।
ऐ० ३।२०
तन्मरुतो धून्वन् । ऐ०३।३४
तस्माद्वैश्वानरीयेणाग्नि**मारुतं** प्रतिपद्यते । ऐ. ३।३५
प्रसादवेति य आग्नि**मारुतं** शंसति
इन्द्रोऽगस्त्यो **मरुत**स्ते समजानत । ऐ० ५।१६;
मरुतो यस्य हि क्षय इति **मारुतं** क्षेतिवदन्तरूपम् ।
ऐ०५।२१
,, ,, ,, पोता यजति । ऐ० ६।१०
स उ **मारुत** आपो वै **मारुतः** । ऐ० ६।३०
,, ,, मैव शंसिष्टेति । ,,
पुरस्तान्**मारुत**स्याप्यस्याथा इति । ,,
सेऽग्नये **मरुत्वते** त्रयोदशकपालं पुरोळाशं निर्वपेत् । ऐ० ७।९
अग्नये **मरुत्वते** स्वाहा ।
मरुतश्च त्वाङ्गिरसश्च देवा अतिछन्दसा छन्दसा रोहन्तु ।
ऐ० ८।१२, १७
मरुतश्चाङ्गिरसश्च देवाः षड्भिश्चैव पञ्चविंशैरहोभिरभ्य-
सिञ्चन् ; ऐ० ८।१४; १९
मरुतः परिवेष्टारो मरुत्तस्यावसन् गृहे । ऐ० ८।२१,
श०१३।५।४।६
मारुती दक्षिणाजामितायै न्वेव **मारुती** भवति ।
श० २।५।२।१०
तद्वासां **मरुतः** पाप्मानं विमेथिरे । श० २।५।२।२४
प्रजानां ,, ,, विमथ्नते । ,, ,,
स एतामैन्द्रीं **मरुत्वती**मजपत् । श० २।५।२।२७
मारुत्यां तं वारुण्यामवदधाति । श० २।५।२।३६

मरुद्भयोऽनुब्रूहीति। श० १।५।१।२८
अस्यै **मारुत्यै** पयस्यायै हिरवयति। ”
मरुतो यजेति। ”
तस्मात् **मरुत्वतीयान्** गृह्णाति। श० ४।३।३।६,९;४।४।१।१
इन्द्रायैव **मरुत्वते** गृह्णीयात्। श० ४।३।३।१०
नापि **मरुद्भयः** स यद्यापि **मरुद्भ्यो** गृह्णीयात्। ,,
इन्द्रमेवानु **मरुत** आभजन्ति। ,,
मरुतो वाऽइत्यश्वस्येऽपक्रम्य तस्थुः। श० ४।३।३।६
विशा **मरुद्भिः** स यथा विजयस्य कामाय। श० ४।३।३।१५
अथ **मरुद्भ्यः** उज्जेषेभ्यः। श ५।१।३।३
येऽएव के च **मारुत्यौ** स्याताम्। ,, ,,
इन्द्रो **मरुत** उपामन्त्रयत। श० ५।३ ५।१४
स यदेव **मारुत**ं रथस्य तदेवैतेन प्रीणाति। श०५।४।३।१७
अथ पृशतीं विचित्रगर्भां **मरुद्भ्य** आलभते। श०५।५।२।९
आदित्याः पश्चान्**मरुत** उत्तरतः। श० ८।६।३।३
मरुतो देवताःश्चिवन्ती। श० १०।३।२।१०
अन्वाख्या **मरुतः**। श० १३।४।२।१६
विश्वे देवा **मरुत** इति। श० १४।४।२।२४
अथ यन्**मरुतः** स्वतवसो यजति, घोरा वै **मरुतः** स्वतवसः। गो० उ० १।२०

अथ **मरुद्भ्यः** सान्तपनेभ्यः। श० २।५।३।३
तं **मरुद्भ्यो** देवविड्भ्यः। ऐ १।१०
मरुत्वां इन्द्र मीढ्व। ऐ ५।६
मरुत्वतीयस्य प्रतिपदनुचरौ। ऐ० ३।२९,३१, ५।१
एतद्यन्**मरुत्वतीयं** पवमाने वा। ऐ० ८।१
एतद्वै **मरुत्वतीयं** समृद्धम्। ऐ. ८।१
मरुत्वतीयमेव गृहीत्वा। श ४।३।३।३
निविदं दधातीति **मरुत्वतीयम्**। श. १३।५।१।९
मरुत्वतीयं ह होतुर्बभूव। गौ पू. ३।५
त्रिष्टुभा **मरुत्वतीयं** प्रत्यपद्यत। गो. उ. ३।११
विश्वे देवा अब्रुवन् **मरुतो** हैनं नाजहुः। ऐ० ३।२०
मध्यंदिने यन्**मरुत्वतीयस्य**। ऐ. ३।२८
मरुत्वतीयः प्रगाथः। ऐ. ४।२९
मरुत्वतीयस्य प्रतिपदिमह। ऐ. ५।४
मरुत्वतीयस्य प्रतिपाश्चजन्यया। ऐ ५।६

मरुत्वतीयस्य प्रतिपदन्तः। ऐ. ५।११
मरुत्वतीये तृतीये सवने। गो. उ. ३।१३; ४।१८
यदूर्ध्वं **मरुत्वतीयात्**। ,,
मरुद्वृधोऽग्ने सहस्रसातमः। श. ११।४।३।१९

(७) आरण्यक ग्रन्थ।

वातवन्तो **मरुद्गणाः**। तै. आ. १।४।१
इहैव वः स्वतपसः। **मरुतः** सूर्यत्वचः।
शर्म सप्रथा आवृणे। तै. आ. १।४।३
वैश्वानराय धिषणामिखाग्नि**मारुतस्य**। ऐ. आ. १।५।३
प्रत्यवो **मरुत** इति **मारुतं** समानोदर्कम्। ,,
चतुर्विंशान्**मरुत्वतीय**स्याऽऽतानः। ऐ. आ. ५।१।१
जनिष्ठा उग्र इति **मरुत्वतीयम्**। ,,
संस्थिते **मरुत्वतीये** होता। ,,
मरुतः प्राणैरिन्द्रं बलेन। तै. आ. २।१८।१
प्रति हास्मै **मरुतः** प्राणान् दधति। ”
अभिघून्वतामभिघ्नताम्। वातवतां **मरुताम्**। तै. आ. १।१५।१

मरुतां च विहायसाम्। तै. आ. १।२७।६
वातवतां **मरुताम्**। तै. आ. १।१५।१
युताम एव **मारुतो मरुद्भि**रुत्तरतो रोचय। तै. आ ५।५।१
वासुकेनैनम्**मरुत्वतीयं** प्रतिपद्यते। ऐ. आ १।२।२

(८) उपनिषदादि ग्रन्थ।

तन्**मरुत** उपजीवन्ति सोमेन मुखेन। छान्दोग्य, ३।९।१
मरुतामेवैको भूत्वा। ”
मरुतामेव तावदाधिपत्यं स्वाराज्यं पर्येता। ”
विश्वे देवा **मरुत** इति। बृहदा. १।४।१२
मरुद्भिः सोमं पिब वृत्रहन्। महानारा. २०।१
मरुत्वान्नेति निश्रुतोऽसि। मैत्रा. २।१
तस्मै नमस्कृत्वा...**मरुदु**त्तरायणं गतः। मैत्रा. ६।३०
मरुतः....पश्चादुद्यन्ति। मैत्रा. ७।३
संवर्तकोऽग्नि**र्मरुतो** विराट्। नृ. पूर्व. २।१
मरीचि**र्मरुता**मस्मि। भ. गी. १०।२१
अश्विनौ **मरुत**स्तथा। भ. गी. ११।६
मरुतश्चोष्मपाश्च। भ. गी. ११।२२

मरुतोंके मंत्रोंमें विद्यमान सुभाषित।

वीरोंका धर्म तथा वीरोंके कर्तव्य।

इसके पहले हम मरुतोंके मंत्रोंका सरल अर्थ दे चुके। यह अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है कि, उन मंत्रोंमें जो प्रमुख कल्पना है, उसे हम जान लें; उस केन्द्रभूत कल्पनाकी जानकारी पानेके लिए यहाँपर हम उन मंत्रोंके सर्वसाधारण प्रतिपादनोंको मूल शब्दोंके साथ देकर सरल अर्थ बताना चाहते हैं। मरुतोंका वर्णन करते हुए वीरोंके संबंधमें जो साधारण धारणाएँ उस उस स्थानपर प्रमुखतया दीख पडती हैं, उन्हींका संग्रह यहाँपर किया है। मंत्रमें पाया जानेवाला वाक्यही यहाँ लिया है। विशेष वर्णनात्मक शब्दोंका ग्रहण नहीं किया है और जिस मौलिक कल्पनाको व्यक्त करनेके लिए मंत्रका सृजन हुआ, उसी मूलभूत कल्पना की स्पष्टता जितने कम शब्दोंसे हो सकती है, उतनेही शब्द यहां के लिये हैं। बहुधा प्रारंभिक अन्वय ज्योंका त्यों रखा गया है, पर जिससे सर्वसाधारण बोध प्राप्त होगा, ऐसा वाक्य बनाने के लिए पर्याप्त शब्द चुन लिये हैं। यद्यपि यह वर्णन मरुतोंकाही है, तथापि इन सुभाषितोंमें वह केवल मरुतोंकाही नहीं रहा है। मरुतोंका विशेष वर्णन हटानेके कारण हमें यह सर्वसामान्य उपदेश मिल जाता है। ऐसा कहा जा सकता है कि, समूचे मानवोंको इस भाँति नीतिका उपदेश दिया गया है। इसी ढंगसे वेदप्रतिपादित सर्वसाधारण धर्मका ज्ञान हो सकता है। इसके लिए ऐसे चुने हुए सुभाषितों का बडा अच्छा उपयोग हो सकता है। पाठकोंको अगर उचित जंचे, तो मंत्रोंके अन्य शब्दभी यथोचित जगहकी पूर्तिके लिए वे रखें। पाठकोंकी सुविधाके लिए मंत्रोंके क्रमांक प्रारंभमें दिये हैं और उन मंत्रोंके कर्तेदादि वेदोंमें पाये जानेवाले पते भी आगे दिये हैं।

इस भाँति स्वाध्याय करनेसेही वेदका सच्चा आशय समझ लेना सुगम होगा, ऐसी हमारी आशा है।

[विश्वामित्रपुत्र मधुच्छन्दा ऋषि।]

(१) यज्ञियं नाम दधानाः। (ऋ. १।६।४)
पूजनीय नाम धारण करें। [उच्च कोटिका यश पाना चाहिए।]

पुनः गर्भत्वं एरिरे। (ऋ. १।६।४)
(वीरोंको) बार बार गर्भवासमें रहना पडता है।
[पुनर्जन्मकी कल्पना का आभास यहाँपर अवश्य होता है।]

स्व-धां अनु (ऋ. १।६।४)
अपनी धारक शक्ति बढाने के लिए या अन्न पानेके लिए [प्रयत्न करना चाहिए।]

(२) देवयन्तः श्रुतं विदद्वसुं अनूषत। (ऋ. १।६।६)
देवत्व पानेकी इच्छा करनेवाले लोगोंको उचित है कि, वे धनकी योग्यता जाननेवाले विख्यात वीरोंके काव्यका गायन करें।

(३) अनवद्यैः अभिद्युभिः गणैः सहस्वत् अर्चति। (ऋ. १।६।८)
निर्दोष एवं तेजस्वी वीरोंको साथ के शत्रुदलका पराभव करनेहारे बलकी वह पूजा करता है। [ऐसे बलको वह अपनेमें बढाता है।]

[कण्वपुत्र मेधातिथि ऋषि।]

(५) पोत्रात् ऋतुना पिबत। (ऋ. १।१५।२)
पवित्र पात्रमेंसे ऋतुकी अनुकूलता देखकर पीनेयोग्य वस्तुओंका सेवन करो।

यज्ञं पुनीतन। (ऋ. १।१५।२)
यज्ञ के कर्म को अधिक पवित्र करो।

[घोरपुत्र कण्व ऋषि।]

(६) अनर्वाणं शर्धं अभि प्र गायत (ऋ. १।३७।१)
जो सामर्थ्य पारस्परिक मनोमालिन्य या वैरभावको न

बढ़ने दे उसका वर्णन करो।

(७) स्वभानवः वाशीभिः ऋष्टिभिः साकं अजायन्त। (ऋ. १।३७।२)

तेजस्वी वीर अपने हथियारोंको साथ रखकर सुसज्ज बने रहते हैं। [सदैव कटिबद्ध रहना वीरोंका तो कर्तव्यही है।]

(८) यामन् चित्रं नि ऋञ्जते। (ऋ. १।३७।३)

युद्धभूमिमें हमला करते समय वीर सैनिक बडी विलक्षण शूरता दर्शाता है।

(९) देवत्तं ब्रह्म शर्धाय, घृष्वये, त्वेषद्युम्नाय प्र गायत। (ऋ. १।३७।४)

देवताओंका स्तोत्र, बल बढानेके लिए, शत्रुका विनाश करनेके लिए और तेजस्वी बननेके हेतु गाते रहो। [ऐसे स्तोत्र पढनेसे या गानेसे उपर्युक्त गुणोंकी वृद्धि होगी।]

(१०) गोषु अघ्न्यं शर्धः प्रशंस; रसस्य जम्भे ववृधे। (ऋ. १।३७।५)

गौओंमें जो श्रेष्ठ बल विद्यमान है, उसकी सराहना करो, गोरसके सेवनसे मानवोंमें वह बढ जाता है।

(११) धूतयः नरः। (ऋ. १।३७।६)

शत्रुसेनाको विचलित करनेवाले [जो वीर हों,] वे नेता होते हैं।

(१२) उग्राय यामाय पर्वतः जिहीत। (ऋ० १।३७।७)

शत्रुसेनापर जब भीषण धावा होता है, तब पहाडतक हिलने लगता है। [वीर सैनिक इसी भाँति दुश्मनोंपर चढाई करें।]

(१३) यामेषु अज्मेषु पृथिवी भिया रेजते। (ऋ० १।३७।८)

शत्रुदलपर चढाई करते समय भूमि काँप उठती है। [वीर सिपाही इसी प्रकार शत्रुओंपर आक्रमण कर दें।]

(१४) शवः द्विता अनु। (ऋ० १।३७।९)

बलका उपयोग दो स्थानोंमें करना पडता है, [अर्थात् जो प्राप्त हुआ है, उसका संरक्षण तथा नये धनकी प्राप्तिके लिए शूर सैनिकोंका बल विभक्त होता है।]

(१५) अज्मेषु यातवे काष्ठाः उत् अत्नत। (ऋ० १।३७।१०)

सेनाके हमले करनेके समय हलचल करनेमें कोई रुकावट या बाधा न हो, इसलिए सभी दिशाओंमें भली भाँति मार्ग बनवाने चाहिए। [यदि आनेजानेके लिए अच्छी सडकें हों, तो दुश्मनोंपर किए हुए आक्रमणोंमें सफलता मिलती है।]

(१६) यामभिः, दीर्घं पृथुं अमृध्रं नपात, च्यावयन्ति। (ऋ. १।३७।११)

वीर सैनिक अपने प्रभावी आक्रमणोंसे बडे, नष्ट न होनेवाले एवं बहुतकालतक टिकनेवाले शत्रुकोभी अत्यन्त विचलित तथा विकम्पित कर डालते हैं।

(१७) जनान् गिरीन् अचुच्यवीतन, (तत्) बलम्। (ऋ. १।३७।१२)

जिसकी सहायतासे शत्रुके वीरोंको अथवा पहाडोंको भी अपदस्थ करना संभव है, वही बल है।

(१९) शीभं प्रयात। (ऋ. १।३७।१४)

शीघ्रतासे चलो।

आशुभिः शीभं प्रयात। = वेगवान साधनोंकी सहायतासे बहुत जल्द गमन करो।

(२०) विश्वं आयुः जीवसे। (ऋ० १।३७।१५)

पूर्ण आयुतक जीवित रहनेके लिए प्रयत्न करना चाहिए।

(२१) पिता पुत्रं न हस्तयोः दधिध्वे। (ऋ. १।३८।१)

जैसे पिता अपने पुत्रको अपने हाथोंसे उठा लेता है, उसी प्रकार [वीर पुरुष जनताको] सान्त्वना या आधार दे दें।

(२२) वः गावः क्व न रण्यन्ति। (ऋ. १।३८।२)

तुम्हारी गौएँ किधर जानेपर दुःखी बन जाती हैं? [वह देखो; वह तुम्हारे दुश्मनोंका स्थान है, ऐसा निश्चित समझ लो।]

(२३) सुम्ना क्व? सुविता क? सौभगा क? (ऋ. १।३८।३)

आपके सुख, वैभव, ऐश्वर्य भला कहाँ हैं [देखो क्या वे तुम्हारे समीप हैं या शत्रु उन्हें छीन ले गये हैं।]

(२४) पृश्निमातरः मर्तासः, स्तोता अमृतः। (ऋ. १।३८।४)

भूमिको माता समझनेवाले वीर यद्यपि मर्त्य हैं, तोभी जो उनके संबंधमें काव्य बनाते हैं, वे अमर बनते हैं। [मातृभूमिके उपासकोंका इतना महत्त्व है, वे स्वयं तो अमर बनते ही हैं, पर उनका काव्य यदि कोई बना दें, तो वे कवि भी अमर हो जाते हैं।]

(२५) जरिता यमस्य पथा मा उप गात्। (ऋ. १।३८।५)
कवि कदापि मौतको पहुंचानेवाली राहसे नहीं चलेगा। [जो कवि वीरोंका वर्णन करनेके लिए वीररसपूर्ण काव्य का सृजन करेगा, वह अवश्य अमर बनेगा।]

(२६) दुर्हणा निर्ऋतिः नः मो सु वधीत्। (ऋ १।३८।६)
विनाश करनेवाली दुर्दशाके कारण हमारा नाश न होने पाय। [इस विषयमें शासकों को अत्यन्त सतर्क रहना चाहिए।]

दुर्हणा निर्ऋतिः तृष्णया पदीष्ट। (ऋ० १।३८।६)
विनाशका दृश्य उपस्थित करनेवाली दुःस्थिति भोग-लालसासे बढती जाती है और उसी कारण उसका विनाश हुआ करता है। [भोगलालसासे सुखसाधनोंकी वृद्धि होती है और अन्तमें उसी की वजहसे वे विनष्ट होते हैं।]

(२७) त्वेषा अमवन्तः धन्वन् मिहं कृण्वन्ति।
(ऋ. १।३८।७)
तेजस्वी तथा बलवान वीर रेगिस्तानमें एवं मरुस्थलोंमें भी जलको उत्पन्न कर दिखाते हैं। [पौरुषसे सुखकी प्राप्ति हुआ करती है।]

(३०) महतां स्वनात् पार्थिवं सद्म मानुषाः प्र अरेजन्त।
(ऋ. १।३८।१०)
मरनेतक खडे रहकर लडनेवाले वीर सैनिकोंकी दहाड से पृथ्वीपर विद्यमान स्थान तथा सभी मानव काँपने लगते हैं। [वीरोंको चाहिए कि वे इसी भाँति शूरता दर्शायें।]

(३१) वीळुपाणिभिः अखिद्रयामभिः रोधस्वतीः अनु यात। (ऋ. १।३८।११)
बाहुबल बढाकर, खिन्नता दूर करते हुए उत्साहपूर्वक प्रवाहमेंसे भी आगे बढो। [निरुत्साही बनकर चुपचाप हाथपर हाथ धरे न बैठो।]

(३२) वः रथाः नेमयः अश्वासः अभीशवः स्थिराः सुसंस्कृताः। (ऋ. १।३८।१२)
तुम्हारे सभी साधन सुदृढ तथा अच्छे संस्कारों से संपन्न हों [तभी तुम्हें सफलता मिलेगी।]

(३३) गिरा ब्रह्मणः पतिं अच्छा वद। (ऋ.१।३८।१३)
अपनी वाणीसे ज्ञानी पुरुषोंकी सराहना करो।

(३४) आस्ये श्लोकं मिमीहि। (ऋ. १।३८।१४)
शीघ्र कवि बनो, थोडीही देरमें मन ही मन श्लोकरचना करो, [काव्यरचना इस भाँति सहज ही होने पाय।]

गाय-त्रं उक्थ्यं गाय।
जिससे गानेवालेकी रक्षा हो, ऐसे काव्योंका गायन करते रहो। [व्यर्थही मनमाने काव्योंका गायन करना उचित नहीं।]

(३५) त्वेषं पनस्युं अर्किणं वन्दस्व। (ऋ. १।३८।१५)
तेजस्वी, वर्णन करनेयोग्य तथा पूज्य वीरकोही प्रणाम करो। [चाहे जिस नीच व्यक्तिके सामने शीश झुकाया न जाय।]

अस्मे इह वृद्धाः असन्।
हमारे समीप वृद्ध रहें।

(३७) वः आयुधा पराणुदे स्थिरा वीळु सन्तु।
(ऋ. १।३९।२)
तुम्हारे हथियार शत्रुओंको मार भगानेके लिए स्थिर एवं पर्याप्त रूपसे सुदृढ रहें। [तुम सदैव इस विषयमें सतर्क रहो कि, तुम्हारे हथियार दुश्मनोंके आयुधोंसेभी अपेक्षाकृत अधिक कार्यक्षम एवं प्रभावी रहें।]

युष्माकं तविषी पनीयसी अस्तु, मायिनः मा।
तुम्हारी शक्ति सराहनीय रहे, पर तुम्हारे कपटी शत्रुकी वैसी न हो। [हमेशा तुम्हारी अपेक्षा दुश्मनों की शक्ति घटिया दर्जेकी रहे, इसलिये सावधानीसे रहा करो।]

(३८) स्थिरं परा हत, गुरु वर्तयथ। (ऋ. १।३९।३)
जो शत्रु स्थिर हुआ हो, उसे दूर हटाकर विनष्ट करो। तथा बडे भारी शत्रुको भी चक्कर खानेतक घुमा दो [उसे पदच्युत कर दो, शत्रुको कहीं भी स्थायी बननेका अवसर न दो।]

वनिनः वि याथन, पर्वतानां आशाः वि याथन।
जंगल तोडकर पहाडी भूविभागोंमेंसेभी विशेष ढंग की सडकें उन्मुक्त रखो। [यातायातके साधनोंमें वृद्धि करो।]

(३९) रिशादसः! भूम्यां शत्रुः वः न विविदे।
(ऋ. १।३९।४)
हे शत्रुदलके विध्वंसक वीरो! इस भूमंडलपर तुम्हारा कोई शत्रु न रहे, ऐसा करो।

आधृषे तविषी तना अस्तु।
वैर करनेवाले लोगोंका विनाश करनेका बल बढता रहे।

(४०) सर्वया विशा प्रो आरत। (ऋ. १।३९।५)

समूची प्रजाके साथ उन्नतिको प्राप्त करो। [संघकी प्रगतिमें व्यक्ति अपनी उन्नति मान ले।]

(४१) वः यामाय पृथिवी आ अश्रोत्, मानुष अबीभयन्त। (ऋ. १।३९।६)

तुम्हारे आक्रमणकी आवाज सारी पृथ्वी सुन लेती है, अर्थात् एक छोरसे दूसरे छोरतक आक्रमणका समाचार पहुँचता है, अतः मानवोंको अत्यन्त भय प्रतीत होता है। [वीरोंके हमलेमें इसी भाँति भीषणता पर्याप्त मात्रामें रहनी चाहिए।]

(४२) तनाय कं अवः आवृणीमहे। (ऋ. १।३९।७)

हम चाहते हैं कि, जिस संरक्षणसे बालबच्चोंका सुख बढे, वही हमें मिल जाए।

विभ्युषे अवसा गन्त।

जो भयभीत हुआ हो उसके समीप अपनी संरक्षक शक्तियोंके साथ चले जाओ। [जो भयभीत हुए हों, उन्हें तसल्ली देनी चाहिए।]

(४३) अभ्वः शवसा ओजसा ऊतिभिः वि युयोत। (ऋ. १।३९।८)

शत्रुके अभूतपूर्व भीषण प्रहारोंको अपने बलसे, सामर्थ्यसे एवं संरक्षक शक्तिओंसे हटा दो, दूर कर दो।

(४४) असामि दद, असामिभिः ऊतिभिः नः आगन्तन। (ऋ० १।३९।९)

पूर्ण रूपसे दान दो, अपनी संपूर्ण, अविकल शक्तियोंके साथ हमारे समीप आओ। [संरक्षण करनेके लिए जाते समय पूर्ण सिद्धता रखनी चाहिए। कहींभी अधूरापन या त्रुटि न रहे।]

(४५) असामि ओजः शवः विभृथ। (ऋ १।३९।१०)

संपूर्ण ढंगसे अपना बल तथा सामर्थ्य बढाकर धारण करो।

द्विषे द्विषं सृजत।

शत्रुपर शत्रुको छोडो। [एक शत्रुसे दूसरे दुश्मनको लडाकर ऐसा प्रबंध करो कि, दोनों शत्रु हतबल एवं परास्त हों।

[कण्वपुत्र पुनर्वत्स ऋषि।]

(४६) पर्वतेषु विराजथ। (ऋ ८।७।१)

पर्वतोंमें आनन्दपूर्वक रहो। [पहाडी मुल्कमेंभी जानेआनेका अभ्यास करना चाहिए। पार्वतीय भूविभागोंके बीहडपनसे तनिकभी न डरते हुए वहाँपर विराजमान होना चाहिए।]

(४७) तविषीयवः! यामं अचिध्वं, पर्वता नि अहासत। (ऋ. ८।७।२)

बलवान वीर जिस समय शत्रुसेनापर धावा करनेके लिए अपना रथ सुसज्ज करते हैं, तब पर्वतभी काँप उठते हैं। [ऐसी दशामें मानव तो अवश्यही मारे डरके थरथर काँपने लगेंगे, इसमें क्या आश्चर्य?]

(४८) पृश्निमातरः उदीरयन्त, पिप्युषीं इषं धुक्षन्त। (ऋ. ८।७।३)

मातृभूमिकी सेवा करनेहारे वीर जब हलचल मचाने लगते हैं, तब वे पुष्टिकारक अन्नकी यथेष्ट समृद्धि करते हैं।

(४९) यत् यामं यान्ति, पर्वतान् प्रवेपयन्ति। (ऋ. ८।७।४)

जब वीर सैनिक दुश्मनोंपर आक्रमण करते हैं, तब वे मार्गपर पडे हुए पहाडोंतक को हिला देते हैं [वीरोंका आक्रमण इसी भाँति प्रबल हो।]

(५०) यामाय विधर्मणे महे शुष्माय गिरिः सिन्धवः नि येमिरे। (ऋ. ८।७।५)

वीरोंके आक्रमणों एवं प्रबल सामर्थ्योंके परिणामस्वरूप मारे भयके पहाड एवं नदियांभी नम्र बन जाती हैं। [शत्रु झुक जायँ इसमें क्या संशय?]

(५१) वाश्राः यामेभिः स्नुना उदीरते। (ऋ. ८।७।७)

गरजनेवाले वीर अपने रथोंसे पर्वतों के शिखरतक पार कर चले जाते हैं। [वीरोंके लिए कोई स्थान अगम्य नहीं है।]

(५२) यातवे ओजसा पन्थां सृजन्ति। (ऋ. ८।७।८)

वीर पुरुष जानेके लिए अपनेही बल एवं सामर्थ्यके सहारे मार्गोंका सृजन करते हैं।

ते भानुभिः वि तस्थिरे।

वे तेजोंसे युक्त होकर विशेष स्थिरता पाते हैं। [वे प्रथम तेजस्वी बनते हैं और तेजस्वी होनेसे स्थायी बन जाते हैं।]

(५७) इमे मदे प्रचेतसः स्थ। (ऋ. ८।७।१२)

तुम अपने स्थानमें आनंदित बननेके लिए विशेष बुद्धिसे

शुक्र होकर रहो। [अपना चित्त संस्कारसंपन्न करनेसे तुम्हें आनन्द प्राप्त होगा।]

(५८) मदच्युतं पुरुक्षुं विश्वधायसं रयिं नः आ इयर्त। (ऋ. ८।७।१३)

शत्रुका गर्व हटानेवाले, सबके लिए पर्याप्त, सबकी धारणपुष्टि करनेकी क्षमता रखनेवाले धनकी आवश्यकता हमें है। [इसके विपरीत जिससे शत्रुको हर्ष हो, जो सबके लिए अपर्याप्त एवं अल्प जँचे, सबकी धारक शक्ति को जो घटा दे, ऐसा धन यदि हमें मुफ्त भी मिल जाय तोभी उसका स्वीकार नहीं करना चाहिए।]

(५९) गिरीणां अधि यामं अचिध्वं, इन्दुभिः मन्दध्वे। (ऋ. ८।७।१४)

जब पर्वतोंपर जाते हो, तब वहाँ उपलब्ध होनेवाले सोमरसोंसे तुम हृष्ट बनते हो। [पहाडी स्थानोंमें पाये जानेवाले सोम का रस पीकर आनन्दकी उपलब्धि होती है।]

(६०) अदाभ्यस्य मन्मभिः सुम्नं भिक्षेत। (ऋ. ८।७।१५)

जो वीर न दब जाते हों, उनके संबंधमें किये काव्योंसे सुख पानेकी चाह करनी चाहिए। [शत्रुसे भयभीत होनेवाले मानवका बखान जिसमें किया हो ऐसे काव्योंके पठनसे या सृजनसे सुखकी प्राप्ति होना सुतरां असंभव है।]

(६२) पृश्निमातरः स्वानेभिः स्तोमैः रथैः उदीरते। (ऋ. ८।७।१७)

मातृभूमि के भक्त भाषणोंसे, यज्ञोंसे तथा रथादि साधनोंसे ऊँचे स्थानको पाते हैं। [अपनी प्रगति कर लेते हैं।]

(६४) पिप्युषीः इषः वः वर्धान्। (ऋ. ८।७।१९)

पुष्टिकारक अन्न तुम्हारी वृद्धि करे। [तुम्हें पौष्टिक अन्न एवं भोज्य पदार्थ सदैव उपलब्ध हों।]

(६६) ऋतस्य शर्धान् जिन्वथ। (ऋ. ८।७।२१)

सत्यके बलों को प्रोत्साहित करो। [सत्य का बल प्राप्त करो।]

(६७) त्ये वज्रं पर्वशः सं दधुः। (ऋ. ८।७।२२)

वे वीर वज्रको हर गाँठमें भली भाँति जोडकर प्रबल तथा सुदृढ कर देते हैं। [वीर सैनिक अपने हथियारोंको प्रबल तथा कार्यक्षम बना रखे।]

(६८) वृष्णि पौंस्यं चक्राणाः अराजिनः वृत्रं पर्वतान् पर्वशः वि ययुः। (ऋ. ८।७।२३)

अपना बल बढानेवाले ये संघशासक [जिनमें कोई राजा नहीं रहता है, ऐसे ये वीर] शत्रुको तथा पहाडोंको तिलतिल तोड डालते हैं। पहाडी गढों को भी छिन्नभिन्न कर डालते हैं।

(६९) युध्यतः शुष्मं अनु आवन्। (ऋ. ८।७।२४)

युद्ध करनेवाले वीरके बलकी रक्षा तुमने की है।

(७०) विद्युद्धस्ताः अभिद्यवः शीर्षन् श्रिये हिरण्ययीः शिप्राः व्यञ्जत। (ऋ. ८।७।२५)

बिजलीके समान चमकनेवाले हथियार धारण करनेवाले वीर अपने मस्तकोंपर स्वर्णिलछवियुक्त शिरोवेष्टन शोभाके लिए धर देते हैं।

(७२) हिरण्यपाणिभिः अश्वैः उपागन्तन। (ऋ ८।७।२७)

सुवर्णके आभूषणोंसे सजाये हुए घोडे साथ लेकर हमारे समीप आओ। [घोडोंपर स्वर्णके गहने लादनेतक असीम वैभव रहे।]

(७४) नरः निचक्रया ययुः। (ऋ ८।७।२९)

नेताके पदको सुशोभित करनेवाले ये वीर पहियोंसे रहित [बर्फमय भूविभागोंपर से चलनेवाली] गाडीमें बैठकर जाते हैं।

(७५) नाधमानं विप्रं मार्डीकेभिः गच्छाथ। (ऋ. ८।७।३०)

सहायताकी इच्छा करनेवाले ज्ञानी पुरुषके समीप सुखवर्धक साधन साथ ले चले जाओ। [सज्जनोंका सुख बढाओ। 'परित्राणाय साधूनां०।' गीता, ४।८]

(७७) वज्रहस्तैः हिरण्यवाशीभिः सहो अग्निं सु स्तुषे। (ऋ. ८।७।३२)

शस्त्रधारी एवं आभूषणों से अलंकृत वीरोंके साथ रहनेवाले अग्निकी सराहना करता हूँ।

(७८) वृष्णः प्रयज्यून् चित्रवाजान् सुविताय सु आ ववृत्याम्। (ऋ. ८।७।३३)

बलिष्ठ, पूजनीय एवं सामर्थ्यवान वीरोंको धनप्राप्ति के [कार्यमें सहायता के] लिए बुलाता हूँ। [हमारे समीप

आ जानेके लिए उनका मन आकर्षित करता हूँ]

(७९) मन्यमानाः पर्शानासः गिरयः नि जिहते। (ऋ. ८।७।३४)

[इन वीरोंके सम्मुख] बडेबडे ऊंचे शिखरवाले पहाड भी अपनी जगह से हट जाते हैं। [वीरोंके सामने पर्वत-श्रेणीतक टिक नहीं सकती है।]

(८०) अन्तरिक्षेण पततः वयः धातारः आ वहन्ति। (ऋ. ८।७।३५)

आकाशमार्गसे जानेवाले वाहन अन्नसमृद्धि करनेहारे वीर सैनिकोंको इष्ट स्थानपर पहुँचाते हैं। [वीर सैनिक विमानोंमें बैठ यात्रा करते हैं।]

(८१) ते भानुभिः वि तस्थिरे। (ऋ. ८।७।३६)

वे वीर पुरुष तेजसे युक्त होकर स्थिर बन जाते हैं।

[कण्वपुत्र सोभरि ऋषि।]

(८२) स्थिरा चित् नमयिष्णवः मा अप स्थात। (ऋ. ८।२०।१)

जो शत्रु अच्छे ढंगसे स्थायी हुए हों उन्हें भी झुकानेवाले तुम वीर हमसे दूर न हो जाओ। [विजयी वीर हमारे समीप ही रहें।]

(८३) सुदीतिभिः वीळुपविभिः आ गत। (ऋ.८।२०।२)

अत्यन्त तीक्ष्ण, प्रबल हथियार साथ ले इधर आओ।

(८४) शिमीवतां उग्रं शुष्मं विद्म। (ऋ. ८।२०।३)

उद्योगशील वीरोंके प्रचण्ड बलकी महत्ताको हम भली भाँति जानते हैं।

(८५) यत् एजथ द्वीपानि वि पापतन्। (ऋ.८।२०।४)

जब ये वीरसैनिक चले जाते हैं, तब टापू [अर्थात् आश्रय-स्थानों] का पतन हो जाता है। [शत्रु अपने स्थानसे हट जाते हैं।]

(८६) अज्मन् अच्युता पर्वतासः नानदति, यामेषु भूमिः रेजते। (ऋ. ८।२०।५)

[वीरोंकी शत्रुदलपर की हुई] चढाइयोंके समय अडिग एवं अटल पर्वततक स्पन्दमान हो उठते हैं और पृथ्वीभी विकम्पित होती है। [वीरोंको उचित है कि, वे इसी भाँति प्रभावशाली एवं सद्यः फलदायी आक्रमणोंका ताँतासा लगा देवें।]

(८७) अमाय यातवे यत्र बाह्वोजसः नरः स्वक्षांसि तनूषु आ देविशते, द्यौः उत्तरा जिहीते। (ऋ. ८।२०।६)

जब सेना की हलचलके लिए अपने बाहुबलसे तुम्हारे वीर जिधर अपनी सारी शक्ति केन्द्रित तथा एकत्रित करके शत्रुपर धावा कर देते हैं उधर ऐसा जान पडता है कि, मानों आकाश स्वयं दूर होते जा रहा है [अर्थात् उन वीरोंकी प्रगति अबाध रूपसे करनेके लिए एक ओर सडक खुली हो जाती है।]

(८८) त्वेषाः अमवन्तः नरः महि श्रियं वहन्ति। (ऋ. ८।२०।७)

तेजस्वी, बलयुक्त तथा नेता बने हुए वीर अत्यधिक रूपसे शोभायमान दीख पडते हैं।

(८९) गोबन्धवः सुजातासः महान्तः इषे भुजे स्परसे। (ऋ ८।२०।८)

गौको बहनके समान माननेवाले कुलीन वीर अन्न, भोग एवं स्फूर्ति देते हैं।

(९०) वृषप्रयाव्णे वृष्णे शर्धाय हव्या प्रति भरध्वम्। (ऋ ८।२०।९)

प्रबल आक्रमण करनेहारे बलिष्ठ वीरोंको पर्याप्त अन्न दे दो, ताकि उनका बल वृद्धिंगत हो। [बिना अन्नके सैन्यका बल तथा प्रतिकारक्षमता टिक नहीं सकेगी।]

(९१) वृषणश्वेन रथेन नः आ गत। (ऋ ८।२०।१०)

बलिष्ठ अश्व जिसको खींचते हों, ऐसे रथपर बैठकर हमारे समीप आओ।

(९२) एषां समानं अञ्जि, बाहुषु ऋष्टयः दविद्युतति। (ऋ. ८।२०।११)

इन वीरोंकी वरदी (गणवेश) समान है, तथा इनकी भुजाओंपर शस्त्र जगमगा रहे हैं।

(९३) उग्रासः तनूषु नकिः येतिरे। (ऋ. ८।२०।१२)

वीर पुरुष अपने शरीरोंकी पर्वाह नहीं करते हैं, [अर्थात् बिना किसी झिझक या हिचकिचाहटके वे उत्साहसे युद्धों में वीरतापूर्ण कार्य कर दिखलाते हैं और अपने प्राणोंको खतरेमें डाल देते हैं।]

रथेषु स्थिरा धन्वानि, आयुधा, अनीकेषु अधि श्रियः।

वीरोंके रथोंपर सुदृढ, न हिलनेवाले एवं स्थायी धनुष्य

और हथियार रखे जाते हैं तथा येही वीर रणभूमिमें सफलता पाते हैं।

(९४) शश्वतां त्वेषं नाम सहः एकम्। (ऋ.८।२०।१३)
इन शाश्वत वीरोंके तेज, यश एवं सामर्थ्यमें अद्वितीयता पाई जाती है।

(९५) धुनीनां चरमः न। (ऋ. ८।२०।१४)
शत्रुको विकम्पित करनेवाले वीरोंमें कोई भी निम्न श्रेणीका या हीन नहीं है।

एषां दाना मह्ना। = इनके दान बडे भारी होते हैं, [वे अपने प्राणोंका बलिदान करनेके लिए उद्यत होते हैं, यही इनका बडा दान है। प्राणोंके अर्पणसे बढकर भला और क्या दान हो सकता है ?]

(९६) ऊतिषु सुभगः आस। (ऋ. ८।२०।१५)
सुरक्षिततामें बडा भारी सौभाग्य छिपा रहता है।

(९९) वस्यसा हृदा उप आववृध्वम्। (८।२०।१८)
उदार अन्तःकरणपूर्वक हमारे समीप आकर समृद्धि बढाओ।

(१००) चर्कृषत् गाः सु अभि गाय। (ऋ. ८।२०।१९)
हल चलानेवाला किसान गौओंको रिझाने के लिए सुंदर गीत गाया करता है।

यूनः वृष्णः पावकान् नविष्ठया गिरा सु अभि गाय= नवयुवक, तथा बलवान और पवित्रता करनेहारे वीरोंका नया काव्य भली भाँति सुरीली आवाजमें गाते रहो।

(१०१) विश्वासु पृत्सु मुष्टिहा हव्यः। (ऋ.८।२०।२०)
सभी सैनिकोंमें मुष्टियोद्धा सम्माननीय होता है।

सहाः सन्ति तान् वृष्णः गिरा वन्दस्व।
जो वीर सैनिक शत्रुदल का आक्रमण होनेपरभी अपनी जगह अटल एवं अडिग हो खडे रहते हैं, उन बलवान वीरोंकी सराहना अपनी वाणीसे करो तथा उनका अभिवादन करो।

(१०२) सजात्येन सबन्धवः मिथः रिहते। (ऋ.८।२०।२१)
सजातीय एवं बांधव परस्पर मिल जुलकर रहें।

(१०३) मर्तः वः भ्रातृत्वं उपायति, आपित्वं सदा निभुवि। (ऋ. ८।२०।२२)
साधारण कोटिका मनुष्य भी तुमसे भाईचारेका बर्ताव कर सकता है; क्योंकि तुम्हारी मित्रता सदैव अचल एवं स्थिर रहा करती है।

(१०४) मारुतस्य भेषजं आ वहत। (ऋ. ८।२०।२३)
वायुमें जो औषधीगुण विद्यमान है, वह हमें ला दो। [वायुमें रोग हटानेकी शक्ति विद्यमान है।]

(१०५) याभिः ऊतिभिः अवथ, शिवाभिः मयः भूत।
(ऋ. ८।२०।२४)
जिन शक्तियोंसे तुम रक्षा करते हो, उन्हीं शुभ शक्तियोंसे हमारा सुख बढाओ।

(१०६) सिन्धौ असिक्न्यां समुद्रेषु पर्वतेषु भेषजम्।
(ऋ. ८।२०।२५)
सिन्धु नदी, समुद्र एवं पर्वतोंमें औषधियाँ हैं। [उन औषधियोंकी जानकारी प्राप्त करके रोग हटाने चाहिए।]

(१०७) विश्वं पश्यन्तः, तनूषु आ बिभृथ, आतुरस्य रपः क्षमा, विह्रुतं इष्कर्त। (ऋ. ८।२०।२६)
विश्वका निरीक्षण करो, शरीरोंको हृष्टपुष्ट बनाओ, रोगसे पीडित व्यक्तियोंके दोष दूर करो और टूटे हुए भागको ठीक करो या जोड दो।

[गोतमपुत्र नोधा ऋषि।]

(१०८) वृष्णे, सुमखाय, वेधसे, शर्धाय सुवृक्तिं प्र भर। (ऋ. १।६४।१)
बल, सत्कर्म, ज्ञान एवं सामर्थ्यका वर्णन करनेके लिए काव्य करो।

(१०९) ऋष्वासः उक्षणः असुराः अरेपसः पावकासः शुचयः सत्वानः दिवः जज्ञिरे। (ऋ. १।६४।२)
उच्च कोटिके, महान्, सत्कार्यके लिए अपने जीवनका बलिदान करनेहारे, पापरहित, पवित्र, शुद्ध एवं सत्ववान जो हों, वे स्वर्गसे पृथ्वीपर आये हैं, ऐसा समझना चाहिए।

(११०) अजराः अभोग्घनः अध्रिगावः दृळ्हा चित् मज्मना प्र च्यावयन्ति। (ऋ. १।६४।३)
क्षीण न होनेवाले, अनुदार शत्रुओंको हटानेवाले, शत्रुसेनापर चढाई करनेवाले वीर सैनिक स्थिर शत्रुओंको भी अपने बलसे हिला देते हैं।

(१११) अंसेषु ऋष्टयः निमिमृक्षुः नरः स्वधया जज्ञिरे।
(ऋ. १।६४।४)
कंधेपर शस्त्र रखनेवाले और नेताके पदपर अधिष्ठित वीर पुरुष अपने बलसे विख्यात होते हैं।

(११२) ईशानकृतः धुनयः धूतयः रिशादसः परिज्रयः

दिव्यानि ऊधः दुहन्ति । (ऋ १।६४।५)

राष्ट्रशासकोंका सृजन करनेवाले, शत्रुको हिला देने, तथा भ्रष्ट करने तथा विनष्ट कर डालनेकी क्षमता रखनेवाले और उसे घेरनेवाले वीर दिव्य गौका दुग्धाशय दुहकर दूधका सेवन करते हैं। [भाँतिभाँतिके भोग पाते हैं।]

(११३) सुदानवः आभुव विदथेषु घृतवत् पयः पिन्वन्ति । (ऋ. १।६४।६)

उत्तम दान देनेहारे प्रभावशाली वीर युद्धभूमिमें घृतमिश्रित दूधका सेवन करते हैं। [दूधमें घी की मिलावट करनेपर वह शक्तिवर्धक एवं बलदायक पेय होता है।]

(११४) महिषासः मायिनः स्वतवसः रघुष्यदः तविषीः अयुग्ध्वम् । (ऋ १।६४।७)

बडे कुशल, तेजस्वी तथा वेगसे जानेहारे वीर अपने बलोंका उपयोग करते हैं।

(११५) प्रचेतस सुपिशः विश्ववेदसः क्षप जिन्वन्तः शवसा अहिमन्यवः ऋष्टिभिः सबाधः सं इत् ।

(ऋ १।६४।८)

ज्ञानी, सुन्दर, धनिक, शत्रुविनाशक, सबको सुखी बनानेकी इच्छा करनेहारे, बलवान एवं उत्साही वीर अपने हथियार साथ लेकर पीडित एवं दुःखी लोगोंको सुखसमाधान देनेके लिए इकट्ठे होकर चले जाते हैं।

(११६) गणश्रिय नृषाचः अहिमन्यवः शूरा वन्धुरेषु रथेषु आतस्थौ । (ऋ १।६४।९)

समुदायके कारण सुहानेवाले, जनताकी सेवा करनेहारे एवं उमंगसे भरे हुए वीर अच्छे रथोंमें बैठकर गमन करते हैं।

(११७) रयिभिः विश्ववेदसः समोकसः तविषीभिः संमिश्लाः विरप्शिनः अस्तारः अनन्तशुष्माः वृषखादयः नरः गभस्त्योः इषुं दधिरे । (ऋ. १।६४।१०)

धनाढ्य, वैभवशाली, एक घरमें निवास करनेवाले, बलसंपन्न, सामर्थ्यपूर्ण, शक्तिमान, शत्रुपर शस्त्र फेंकनेवाले और अच्छे ढगसे अलकृत वीर अपने कंधोंपर बाण एवं तूणीर धारण करते हैं।

(११८) अयासः स्वसृतः ध्रुवच्युतः दुध्रकृतः भ्राजत्-ऋष्टयः पर्वतान् पविभिः उज्जिघ्नते । (ऋ १।६४।११)

प्रगतिशील, अपनी इच्छासे हलचल करनेवाले, सुदृढ दुश्मनोंको भी अपदस्थ करनेकी क्षमता रखनेवाले और जिन्हें कोई घेर नहीं सकता ऐसे तेजस्वी शस्त्र धारण करनेहारे वीर पहाडोंको भी अपने हथियारों से उडा देते हैं।

(११९) घृषुं पावकं विचर्षणिं रजस्तुरं तवसं वृषणं गणं सश्चत । (ऋ. १।६४।१२)

युद्धमें प्रवीण, पवित्रता करनेहारे, ध्यानपूर्वक हलचलोंका सूत्रपात करनेवाले, अपनी वेगवान गतिके कारण धूलिको प्रेरित करनेवाले, बलिष्ठ एवं सामर्थ्ययुक्त वीरोंके संघको समीप बुलाओ।

(१२०) वः ऊती यं प्रावत, सः शवसा जनान् अति ।

(ऋ १।६४।१३)

तुम अपने संरक्षणोंसे जिस पुरुषको सुरक्षित बना देते हो, वह सभी लोगोंमें श्रेष्ठ बनता है।

अर्वद्भिः वाजं नृभिः धना भरते, पुष्यति ।

वह घुडसवारोंकी सहायतासे अन्न प्राप्त करता है, वीरोंकी सहायतासे पौरुषपूर्ण कार्य करके धनवैभव पाता है और पुष्ट बनता है।

आपृच्छयं क्रतुं आ क्षेति ।

वर्णन करनेयोग्य पुरुषार्थ करके यशस्वी बनता है।

(१२१) चर्कृत्यं, पृत्सु दुष्टरं, द्युमन्तं, शुष्मं धनस्पृतं, उक्थ्यं, विश्वचर्षणिं तोकं तनयं धत्तन ।

(ऋ. १।६४।१४)

पुरुषार्थी, युद्धोंमें विजयी बननेवाला तेजस्वी, समर्थ, धनवान, वर्णनीय स्तुत्य जनताका हितकर्ता पुत्र होवे।

(१२२) अस्मासु स्थिरं वीरवन्तं, ऋतीषाहं शूशुवांसं रयिं धत्त । (ऋ १।६४।१५)

हमें स्थिर, वीरोंसे युक्त, शत्रुओंके पराभव करनेमें क्षमतापूर्ण धन प्रदान करो।

[रहूगणपुत्र गोतमऋषि ।]

(१२३) सुदंससः सप्तयः सूनवः यामन् शुम्भन्ते विदथेषु मदन्ति । (ऋ. १।८५।१)

सत्कर्म करनेहारे एवं प्रगतिशील वीर सुपुत्र शत्रुदलपर धावा करते समय सुशोभित दीख पडते हैं और युद्धस्थलमें बडे ही हर्षित हो उठते हैं।

(१२४) अर्कं अर्चन्तः पृश्निमातरः श्रियः अधि दधिरे, महिमानं आशत । (ऋ. १।८५।२)

एकही पूजनीय देवताकी उपासना करनेहारे मातृभूमिके

भक्त और अपना यश बढाते हैं और बडप्पनको पा लेते हैं।

(१२५) गोमातरः विभ्वं अभिमातिनं अप बाधन्ते। (ऋ. १।८५।३)

गौको माता समझनेवाले वीर सभी शत्रुओंका पराभव करते हैं तथा उन्हें दूर हटा देते हैं।

(१२६) सुमखासः ऋष्टिभिः विभ्राजन्ते, मनोजुवः वृषव्रातासः रथेषु पृषतीः अयुग्ध्वं, अच्युता चित् ओजसा प्रच्यवयन्तः। (ऋ. १।८५।४)

अच्छे कर्म करनेहारे वीर पुरुष या सैनिक अपने हथियारोंसे सुहाते हैं। मनकी नाईं वेगवान, सांघिक बलसे युक्त ये वीर अपने रथोंमें घोडियों को जोत लेते हैं और अपनी शक्तिसे जो शत्रु अटल तथा अडिग प्रतीत होते हों, उन्हें अपदस्थ कर डालते हैं।

(१२७) वाजे अद्रिं रंहयन्तः (ऋ. १।८५।५)

अन्नके लिए ये वीर पहाडकोभी विचलित कर डालते हैं।

(१२८) रघुष्यदः सप्तयः वः आ वहन्तु। (ऋ १।८५।६)

वेगपूर्वक दौडनेवाले घोडे तुम वीरोंको यहाँपर ले आयें।

रघुपत्वानः बाहुभिः प्र जिगात।

शीघ्रतासे प्रयाण करनेवाले तुम लोग अपने बाहुबलसे प्रगति करो।

वः उरु सदः कृतं- बडा घर तुम्हारे लिए बना रखा है।

बर्हिः आ सीदत, मध्वः अन्धसः मादयध्वम्।

आसनोंपर बैठो और मिठासभरे अन्नका सेवन करके प्रमत्त बनो।

(१२९) ते स्वतवसः अवर्धन्त। (ऋ. १।८५।७)

वे वीर सैनिक अपने बलसे वृद्धिगत होते रहते हैं।

महित्वना नाकं आ तस्थुः।

अपने बडप्पनसे वीर पुरुष स्वर्गमें जा बैठते हैं।

विष्णुः वृषणं मदच्युतं आवत्।

देव बलिष्ठ तथा प्रसन्नचेता वीरोंकी रक्षा करता है। जिसका मन आनन्दसरितामें डूबता उतरता हो उसकी रक्षा परमात्मा करता है।

(१३०) शूराः युयुधयः श्रवस्यवः पृतनासु येतिरे। (ऋ. १।८५।८)

शूर योद्धा यशस्विता पानेके लिए युद्धमें विजयार्थ प्रयत्न करते रहते हैं।

त्वेषसंदृशः नरः विश्वा भुवना भयन्ते।

तेजस्वी वीरोंसे सभी भयभीत हो उठते हैं।

(१३१) स्वपाः त्वष्टा सुकृतं वज्रं अवर्तयत्, नरि अपांसि कर्तवे धत्ते। (ऋ. १।८५।९)

अच्छे कुशल कारीगरने सुघड हथियार बना दिया और एक अलौकिक वीर पुरुषने युद्धमें विशेष शूरता प्रदर्शित करनेके लिए उसे हाथमें उठा लिया।

(१३२) ते ओजसा ऊर्ध्वं अवतं नुनुद्रे, दद्रहाणं पर्वतं बिभिदुः। (ऋ. १।८५।१०)

उन वीरोंने पहाडोंपर विद्यमान जलको नीचे प्रवर्तित कर दिया और उसके लिए बीचमें रुकावट खडी करनेवाले पर्वतको भी तोड डाला।

(१३३) तया दिशा अवतं जिह्मं नुनुद्रे।

(ऋ. १।८५।११)

उस दिशामें टेढीमेढी राहसे वे पानी को ले गये।

(१३४) नः सुवीरं रयिं धत्त। (ऋ. १।८५।१२)

हमें अच्छे वीरोंसे युक्त धन दे दो। [जिस धनमें वीरभाव न हो, वह हमें नहीं चाहिए।]

(१३५) यस्य क्षये पाथ, स सुगोपातमो जनः।

(ऋ. १।८६।१)

जिसके घरमें देवगण रक्षाका भार उठा लेते हैं, वह गौओंका परिपालन अच्छे ढंगसे करनेवाला बन जाता है। [अर्थात् वह सबका भली भाँति संरक्षण करता है।]

(१३६) विप्रस्य मतीनां शृणुत। (ऋ. १।८६।२)

ज्ञानी की सुबुद्धि को सुन लो।

(१३७) यस्य वाजिनः विप्रं अनु अतक्षत, सः गोमति व्रजे गन्ता। (ऋ. १।८६।३)

जिसके बल ज्ञानीके अनुकूल होते हैं वह ऐसे गोठेमें चला जाता है कि, जहाँ पर गौओंकी भरमार हो। [वह गोधनसे युक्त बनता है, यथेष्ट धन पाता है।]

(१३८) वीरस्य उक्थं शस्यते।

(ऋ. १।८६।४)

वीरकी सराहना की जाती है।

(१३९) यः अभिभुवः अस्य विश्वाः चर्षणीः आश्रोषन्तु। (ऋ. १।८६।५)

जो वीर शत्रुका पराभव करनेकी क्षमता रखता है, उस का काव्य सभी लोग सुन लें।

(१४०) चर्षणीनां अवोभिः वयं ददाशिम।

(ऋ. १।८६।६)

किसानोंकी संरक्षणआयोजनाओं से पालित बनकर हम दान दिया करते हैं। [यदि कृषक सुरक्षित रहें, तो सभी प्रगतिशील हो सकते हैं, दरिद्रताको दूर भगा सकते हैं।]

(१४१) यस्य प्रयांसि पर्षथ, सः मर्त्यः सुभगः अस्तु। (ऋ. १।८६।७)

जिसके प्रयत्नोंसे तुम भोग भोगते हो, वह मनुष्य सौभाग्यवान एवं धन्य है।

(१४२) शशमानस्य स्वेदस्य वेनतः कामस्य विद।

(ऋ. १।८६।८)

शीघ्रतापूर्वक और पसीनेसे तर हो आनेतक जो कार्य करता हो, उसकी आकांक्षाओंको तुम जान लो। [उसकी उपेक्षा न करो।]

(१४३) यूयं तत् आविष्कर्त, विद्युता महित्वना रक्षः विध्यत। (ऋ. १।८६।९)

तुम अपने उस बलको प्रकट करो और विद्युत् जैसी बडी शक्तिसे दुष्टोंका विनाश करो।

(१४४) गुह्यं तमः गूहत, विश्वं अत्रिणं वि यात, ज्योतिः कर्त। (ऋ. १।८६।१०)

अँधेरेको दूर हटा दो, सभी पेटुओंको बाहर भगा दो और सबको प्रकाश दिखाओ।

(१४५) प्रत्वक्षसः प्रतवसः विरप्शिनः अनानताः अविथुराः ऋजीषिण. जुष्टतमासः नृतमासः वि आनज्रे। (ऋ. १।८७।१)

शत्रुओंका विनाश करनेहारे, बलसंपन्न, वाग्मी, शीश न झुकानेवाले, निडर, सरल, जिनकी सेवा अत्यधिक मात्रामें लोग करते हैं तथा जो अति उच्च कोटिके नेता बननेकी क्षमता रखते हैं, ऐसे वीर तेजसे जगमगाया करते हैं।

(१४६) केन चित्पथा यथिं अचिध्वम्।

(ऋ. १।८७।२)

किसीभी राहसे शत्रुदलपर की जानेवाली चढाईके पथ-पर आकर इकट्ठे बनो।

(१४७) यत् शुभे युञ्जते, अज्मेषु यामेषु भूमिः प्र रेजते। (ऋ. १।८७।३)

तुम जब शुभ कार्य करनेके लिए तैयार होते हो, तब शत्रुसेनापर चढाई करते समय भूमि थरथर काँप उठती है।

ते धुनयः धूतयः भ्राजदृष्टयः महित्वं पनयन्त।

वे शत्रुको हिला देनेवाले तथा शस्त्रधारी वीर अपना महत्त्व प्रकट करते हैं।

(१४८) सः हि गणः स्वसृत् तविषीभिः आवृतः अया ईशानः सत्यः ऋणयावा अनेद्यः वृषा अविता।

(ऋ. १।८७।४)

वह वीरोंका समुदाय अपनी निजी प्रेरणासे कर्म करने-हारा, सामर्थ्ययुक्त, अधिकारी बननेयोग्य, सत्यनिष्ठ, ऋण चुकानेवाला, अनिन्दनीय एवं बलवान है, अतः सबकी रक्षा करता है।

(१५०) ते अभीरवः प्रियस्य धाम्नः विद्रे। (ऋ. १।८७।६)

वे निडर वीर आदरका स्थान प्राप्त करते हैं।

(१५१) ऋष्टिमद्भिः रथेभिः आ यात, सुमायाः इषा नः आ पप्तत। (ऋ. १।८८।१)

शस्त्रोंसे सुसज्ज रथोंमें बैठकर वीर सैनिक इधर पधारें और अच्छी कारीगरी बढाकर विपुल अन्न के साथ हमारे समीप आ जायँ।

(१५२) रथतूर्भिः अश्वैः शुभे आ यान्ति, स्वधिति-वान् भूम जङ्घनन्त। (ऋ. १।८८।२)

रथ खींचनेवाले घोडोंके साथ वीर सैनिक शुभ कार्य करनेके लिए आ जाते हैं और शस्त्रधारी बनकर पृथ्वीपर विद्यमान शत्रुओंका नाश करते हैं।

(१५३) श्रिये कं वः तनूषु वाशीः, मेधा ऊर्ध्वा कृणवन्ते। (ऋ. १।८८।३)

जो वीर सपत्ति तथा सुख पानेके लिएही शस्त्र धारण करते हैं, वे वीर अपनी बुद्धिको उच्च कोटिकी बना देते हैं।

(१५४) अर्कैः ब्रह्म कृण्वन्तः। (ऋ. १।८८।४)

स्तोत्रों से ज्ञानकी वृद्धि करो।

(१५५) अयोदंष्ट्रान् विधावतः वराहून् पश्यन्, योजनं, न अचेति। (ऋ. १।८८।५)

तीक्ष्ण हथियार लेकर शत्रुदलपर चढाई करनेवाले एवं प्रमुख शत्रुओंका वध करनेवाले वीरोंको देखकर जो आयोजना की जाती है, वह सचमुचही अपूर्व होती है।

(१५६) गभस्त्योः स्वधां अनु प्रति स्तोभति।

(ऋ. १।८८।६)

वीरोंके बाहुओंमें सामर्थ्य जिस अनुपातमें हो, उसी अनुपातमें इनकी प्रशंसा होती है।

[दिवोदासपुत्र परुच्छेप ऋषि।]

(१५७) तानि सना पौंस्या अस्मत् मो सु अभि भूवन्।

(ऋ. १।१३९।८)

वे वीरोंकी शाश्वत शक्तियाँ हमसे दूर न हों।

अस्मत् पुरा मा जारिषुः।

हमारे नगर ऊजड न हों।

[मित्रावरुणपुत्र अगस्त्य ऋषि।]

(१५८) रभसाय जन्मने तविषाणि कर्तन।

(ऋ. १।१६६।१)

पराक्रमयुक्त जीवन मिले, इसलिए बलोंका सम्पादन करो।

(१५९) घृष्वयः विदथेषु उपक्रीळन्ति।

(ऋ. १।१६६।२)

शत्रुओंसे संघर्ष करनेवाले वीर युद्धक्षेत्रमें क्रीडा करते हैं। [क्रीडामें जिस भाँति लोग आसक्त होते हैं, उसी प्रकार ये वीर योद्धा रणांगणमें मानों खेल समझकर निरत होते हैं।]

नमस्विनं अवसा नक्षन्ति, स्वतवसः हविष्कृतं न मर्धन्ति।

अपने बलसे, नम्र होनेवालोंकी रक्षा करनेवाले ये वीर अपनी सामर्थ्यके सहारे अन्नदान करनेवाले का नाश नहीं करते।

(१६०) ऊमासः ददाशुषे रायः पोषं अरासत।

(ऋ. १।१६६।३)

रक्षक वीर दाताओंको अन्न एवं पुष्टि प्रदान करते हैं।

(१६१) एवासः तविषीभिः अव्यत, स्वयतासः ध्राजन्, प्रयतासु ऋष्टिषु विश्वा भयन्ते, वः यामः चित्रः (ऋ. १।१६६।४)

वेगपूर्वक आक्रमण करनेहारे वीर अपनी शक्तियोंसे सबका प्रतिपालन करते हैं. अपने आपको सुरक्षित रखकर शत्रुदलपर धावा करते हैं। जिस समय वे अपने हथियारोंको सुसज्ज करते हैं, तब सभी सहम जाते हैं, क्योंकि इनका आक्रमण बडाही भीषण होता है।

(१६२) त्वेषयामाः नर्याः यत् पर्वतान् नदयन्त, दिवः पृष्ठं अचुच्यवुः, वः अज्मन् विश्वः वनस्पतिः भयते।

(ऋ. १।१६६।५)

वेगसे हमले करनेवाले तुम लोग, जोकि जनताके हितके लिए आक्रमण कर बैठते हो, जिस समय पर्वतोंपर से गरजते हुए गमन करते हो, तब स्वर्ग का पृष्ठभाग स्पन्दित हो उठता है और तुम्हारी इस चढाईके मौकेपर समूचे वनस्पति भी भयभीत हो जाते हैं।

(१६३) यत्र वः क्रिविर्दती दिद्युत् रदति, (तत्र) यूयं सुचेतुना अरिष्टग्रामाः नः सुमतिं पिपर्तन।

(ऋ. १।१६६।६)

जब तुम्हारा तीक्ष्ण एवं दन्दानेदार हथियार शत्रुके टुकडे टुकडे कर देता है, उस भीषण संग्राममें तुम अपना चित्त शांत रखकर और अपने नगर सुरक्षित रखकर हमारी बुद्धि की शक्तिको बढाते हो।

(१६४) अनवभ्रराधसः अलातृणासः अर्कं प्रार्चन्ति, (तानि) वीरस्य प्रथमानि पौंस्या विदुः।

(ऋ. १।१६६।७)

जिनके धनको कोई छीन नहीं सकता, जो दुश्मनों को पूरी तरह से विनष्ट कर डालते हैं, ऐसे वीर उपासनीय देवताकी पूजा करते हैं और उन वीरोंके प्रमुख बल एवं पौरुष उसी समय प्रकट होते हैं।

(१६५) यं अभिह्रुतेः अघात् आवत, तं शतभुजिभिः पूर्भिः रक्षत। (ऋ. १।१६६।८)

जिसे नाश या पापसे तुम बचाते हो, उसकी रक्षा सैकडों उपभोगसाधनोंसे युक्त गढ या दुर्गोंसे तुम करते हो। [उसे पूर्णतया निर्भय बना देते हो।]

(१६६) वः रथेषु विश्वानि भद्रा, वः अंसेषु तविषाणि आहिता, प्रपथेषु खादयः, वः अक्षः चक्रा समया विववृते। (ऋ. १।१६६।९)

तुम्हारे रथोंमें कल्याणकारक साधन रखे हैं; तुम्हारे कंधोंपर आयुध हैं; प्रवास करते समय तुम अपने समीप

खानेकी चीजें रखते हो; तुम्हारे रथोंके पहिये उचित अवसरपर उचित ढंगसे घूमते हैं। [तुम शत्रुओंपर ठीक मौकेपर ठीक तरह हमले करते हो।]

(१६७) नर्येषु बाहुषु भूरीणि भद्रा, वक्षःसु रुक्माः, अंसेषु रभसासः अञ्जयः, पविषु अधि क्षुराः, अनु श्रियः वि धिरे। (ऋ १।१६६।१०)

मानवोंके हितकर्ता वीरोंके बाहुओंमें बहुतसी शक्तियाँ हैं, जो कि कल्याणकारक हैं; वक्षस्थलपर सुहगोंके हार हैं, कंधोंपर वीरभूषण हैं उनके वज्रों की धारा अत्यन्त तीक्ष्ण है। ये सभी बाते वीरोंकी सुन्दरता बढाते हैं।

(१६८) विभ्वः विभूतयः दूरेदृशः मन्द्राः सुजिह्वाः आसभिः स्वरितारः परिस्तुभः। (ऋ. १।१६६।११)

ये वीर सामर्थ्यसंपन्न, ऐश्वर्यशाली, दूरदर्शी, हर्षित, सुन्दर वक्ता हैं, अतः अत्यन्त सराहनीय हैं।

(१६९) दात्रं दीर्घं व्रतं, सुकृते जनाय त्यजसा अराध्वम्। (ऋ १।१६६।१२)

दान देना वीरोंका बडा व्रत है, पुण्यकर्मकर्ता को ये वीर दान देते हैं।

(१७०) जामित्वं शंसं, साकं नरः मनवे दंसनैः श्रुष्टिं आव्य, आ चिकित्रिरे (ऋ १।१६६।१३)

वीरोंका बधुप्रेम अत्यन्त सराहनीय है। ये वीर एकत्रित रहकर अपने प्रयत्नों से सबका सरक्षण करते हैं और दोष दूर हटाते हैं।

(१७१) जनासः वृजने आ ततनन्। (ऋ १।१६६।१४)

वीर युद्धक्षेत्रमें अपना सैन्य फैलाते हैं।

(१७२) इषा तन्वे वया आ यासिष्ट (ऋ. १।१६६।१५)

अन्नसे शरीरमें सामर्थ्य बढा दो।

इषं वृजनं जीरदानुं विद्याम।

अन्न, बल एव शीघ्र विजय मिल जाए।

(१७३) सुमायाः अवोभिः आ यान्तु। (ऋ. १।१६७।२)

कुशल वीर अपने संरक्षणके साधनोंसे युक्त हो पधारें।

एषां नियुतः समुद्रस्य पारे धनयन्त।

इनके घोडे (घुडसवार) समुन्दरके पार चले जाकर धन प्राप्त करें।

(१७४) सुधिता ऋष्टिः सं मिम्यक्ष (ऋ. १।१६७।३)

अच्छी तलवार इन वीरोंके समीप रहती है।

मनुषः योषा न गुहा चरन्ती विदथ्या सभावती।

मानवोंकी महिलाओंकी नाईं वह परदेमें रहा करती है। (मियानमें छिपी पडी रहती है, पर उचित अवसरपर (सभावती) वह सभामें प्रकट होती है, वैसेही यह तलवार युद्धके समय बाहर आ जाती है।

(१७८) एषां सत्यः महिमा अस्ति, वृषमनाः अहंयुः सुभागाः जनीः वहते। (ऋ. १।१६७।७)

इन वीरोंकी महिमा बहुत बडी है। उनपर जिसका चित्त केन्द्रित हुआ हो, ऐसी अहमहमिकापूर्वक आगे बढनेवाली और सौभाग्यसे युक्त स्त्री वीरप्रजाका सृजन करती है।

(१७९) अच्युता ध्रुवाणि च्यवन्ते, अप्रशस्तान् चयते दातिवारः ववृधे। (ऋ. १।१६७।८)

ये वीर स्थिरीभूत शत्रुओंको हिला देते हैं, अप्रशस्तोंको एक ओर हटा देते हैं और दानीपन बढा देते हैं।

(१८०) शवसः अन्तं आन्ति आरात्तात् नहि आपुः। (ऋ. १।१६७।९)

वीरोंके बलकी थाह समीप या दूरसे नहीं मिलती है।

धृष्णुना शवसा शूशुवांसः धृषता द्वेषः परि स्थुः।

शत्रुविध्वंसक, उत्साहपूर्ण बलसे वृद्धिंगत होनेवाले वीर अपनी प्रचण्ड सामर्थ्य से शत्रुओंको घेर लेते हैं।

(१८१) अद्य वयं इन्द्रस्य प्रेष्ठाः, वयं श्वः। (ऋ १।१६७।१०)

आज हम परमपिता परमात्माके प्यारे हैं, उसी प्रकार कल भी हम प्यारे बनकर रहें।

पुरा वयं महि अनु द्यून् समर्ये वोचमहि।

पहले से हमें बडप्पन मिले, इसलिए हरदिनके संग्राममें घोषणा करते आये हैं।

ऋभुक्षाः नरां नः अनु स्यात्।

वह प्रभु समूची मानवजातिमें हमारे अनुकूल बने।

(१८२) यज्ञायज्ञा समना तुतुर्वणिः। (ऋ १।१६८।१)

हर कर्ममें मनकी संतुलित दशा (सिद्धिके निकट) त्वरापूर्वक पहुँचानेवाली है।

धियंधियं देवया दधिध्वे।

हर क्रियामें देवताविषयक प्रेम धारण करो।

सुविताय अवसे सुवृक्तिभिः आ ववृत्याम्।

सबकी सुस्थितिके लिए तथा सुरक्षाके लिए अच्छे मार्गों से वीरोंको बारबार बुलाता हूँ।

(१८४) ये स्वजाः स्वक्षत्रसः धूतयः, इषं स्वर् अभिजायन्त। (ऋ. १।१६८।२)

जो स्वयंस्फूर्ति से कार्य करते हैं, अपने बलसे युक्त होते हैं और शत्रुको विचलित करा देनेकी क्षमता रखते हैं, वे धनधान्य एवं तेजस्विता पानेके लिएही उत्पन्न होते हैं।

(१८५) अंसेषु रम्भे, हस्तेषु कृतिः संदधे।
(ऋ. १।१६८।३)

(वीरोंके) कंधोंपर हथियार तथा हाथोंमें तलवार रहती है।

(१८६) स्वयुक्ताः दिवः अव आ ययुः।
(ऋ. १।१६८।४)

स्वयं ही सत्कर्ममें जुट जानेवाले वीर स्वर्ग से भूमडल-पर उतर पडते हैं।

अरेणवः तुविजाताः भ्राजदृष्टयः दृळ्हानि अचुच्यवुः। (ऋ. १।१६८।४)

निष्कलंक, बलिष्ठ, तेजस्वी आयुध धारण करनेवाले वीर सुदृढ शत्रुओंको भी पदभ्रष्ट कर डालते हैं।

(१८७) ऋष्टिविद्युतः इषां पुरुप्रैषाः। (ऋ १।१६८।५)

शस्त्रों से सुशोभित दीख पडनेवाले वीर अन्नप्राप्तिके लिए बहुतही प्रेरणा करनेवाले होते हैं।

(१८९) वः सातिः रातिः अम्वती स्ववती त्वेषा विपाका पिपिष्वती भद्रा पृथुज्रयी असुर्या।
(ऋ. १।१६८।७)

तुम्हारी सेवा एवं देन बलवान, सुखदायक, तेजस्वी, परिपक्व, शत्रुदलका विध्वंस करनेवाली, कल्याणकारक, जयिष्णु तथा दुश्मनों से जूझनेवाली है।

(१९१) पृश्निः महते रणाय अयासां त्वेषं अनीकं असूत। (ऋ. १।१६८।८)

मातृभूमिने बडे भारी युद्धके लिए शूरोंके तेजस्वी सैन्यका सृजन किया।

सप्सरासः अभ्वं अजनयन्त।

संघ बनाकर हमले चढानेवाले वीरोंने बडी भारी एवं अनोखी शक्ति प्रकट की।

(१९३) तुराणां सुमतिं भिक्षे। (ऋ. १।१७१।१)

शीघ्रही विजयी बननेवाले वीरोंकी सद्बुद्धि की इच्छा या चाह मैं करता हूँ।

हेळः नि धत्त =

द्वेष एक ओर करो। वैरको ताकमें रख दो।

(१९५) यामः चित्रः ऊती चित्रा। (ऋ १।१७२।१)

वीरोंका शत्रुदलपर जो आक्रमण होता है, वह अनूठा है और उनका संरक्षण भी बडा अनोखा है।

सुदानवः अहिभानवः।

ये वीर बडे ही उत्कृष्ट दानी हैं तथा इनका तेज भी कभी नहीं घटता।

(१९७) तृणस्कन्दस्य विशः परि वृङ्क्त। (ऋ १।१७२।३)

तिनके की नाई अपनेआप विनष्ट होनेवाली प्रजाका विनाश न होने पाय, ऐसी आयोजना करो।

जीवसे ऊर्ध्वान् कर्त।

दीर्घकालतक जीवित रहनेके लिए उन्हें उच्चपदपर अधिष्ठित करो।

[शुनकपुत्र गृत्समद ऋषि।]

(१९८) दैव्यं शर्धः उप ब्रुवे। (ऋ. २।३०।११)

दिव्य बलकी मैं प्रशंसा करता हूँ।

सर्ववीरं अपत्यसाचं श्रुत्यं रयिं दिवे दिवे नशामहै।

सभी वीर तथा अपत्योंसे युक्त और कीर्ति प्रदान करने-वाला धन हमें प्रति दिन मिलता रहे।

(१९९) धृष्णु-ओजसः तविषीभिः अर्चिनः शुशुचानाः गाः अप अवृण्वत। (ऋ २।३४।१)

शत्रुका पराभव करनेहारे, सामर्थ्यके कारण पूज्य बने हुए तेजस्वी वीर गौओंको (शत्रुके कारागृह से) छुडा देते हैं।

(२०१) अश्वान् उक्षन्ते, आशुभिः आजिषु तुरयन्ते।
(ऋ २।३४।३)

वीर सैनिक घोडोंको बलिष्ठ बनाते हैं और घोडोंपर बैठ-कर वे युद्धोंमें त्वरापूर्वक चले जाते हैं।

हिरण्यशिप्राः समन्यवः दविध्वतः पृक्षं याथ।

स्वर्णिल शिरोवेष्टन पहननेवाले, उत्साही तथा शत्रुको विकम्पित करनेवाले वीर अन्नको प्राप्त करते हैं।

(२०२) जीरदानवः अनवभ्रराधसः वयुनेषु धूर्षदः विश्वा भुवना आ ववक्षिरे। (ऋ २।३४।४)

शीघ्र विजयी बननेहारे, ऐसा धन समीप रखनेहारे कि जिसको कोईभी छीन नहीं सकता ऐसे वीर पुरुष सभी कर्मोंमें प्रमुख जगह बैठकर सबको आश्रय देते हैं।

(२०३) इन्धन्वभिः रंशवूर्धभिः धेनुभिः आ गन्तन। (ऋ. २।३४।५)

द्योतमान और बडे बडे धनवाली गौओंके झुंडको साथ लिये हुए इधर आओ।

(२०४) धेनुं ऊधनि पिप्यत, वाजपेशसं धियं कर्त। (ऋ. २।३४।६)

गौके दूधकी मात्रा बढाओ और ऐसा कर्म करो कि अन्नसे पुष्टि पाकर सुरूपता बढे।

(२०५) इषं दात, वृजनेषु कारवे सनिं मेधां अरिष्टं दुष्टरं सहः (दात)। (ऋ. २।३४।७)

अन्नका दान करो। युद्धमें कुशलतापूर्वक कर्तव्य करनेहारेको देन, बुद्धि और विनष्ट न होनेवाली अजेय शक्तिका प्रदान करो।

(२०६) सुदानवः रुक्मवक्षसः भगे अश्वान् रथेषु आ युञ्जते. जनाय महीं इषं पिन्वते। (ऋ. २।३४।८)

उत्तम दान देनेहारे, छातीपर स्वर्णहार धारण करनेवाले वीर सैनिक ऐश्वर्यके लिये जब अपने रथोंको अश्व जोतते हैं [युद्धके लिए तैयार बनते हैं] तब जनताको विपुल अन्नका दान देते हैं।

(२०७) रिषः रक्षत, तं तपुषा चक्रिया अभि वर्तयत, अशसः वधः आ हन्तन। (ऋ. २।३४।९)

शत्रुओंसे हमारी रक्षा करो, उन शत्रुओंको तपाये हुए चक्र नामक शस्त्रसे विद्ध करो और पेटू दुश्मनका वध कर डालो।

(२०८) तत् चित्रं याम चेकिते। (ऋ. २।३४।१०)

यह अनूठा आक्रमण स्पष्ट रूपसे दीख पडता है।

आपथ्यः पृश्न्याः ऊधः दुहुः।

मित्र गौके थनका दोहन करते हैं [और उस दुग्धका पान करते हैं।]

(२११) क्षोणीभिः अरुणेभिः अञ्जिभिः ऋतस्य सदनेषु ववृधुः. अत्यं पाजसा सुचन्द्रं सुपेशसं वर्णं दधिरे। (ऋ. २।३४।१३)

केसरिया वरदी पहने हुए वीर यज्ञमंडपमें सम्मानपूर्वक बैठते हैं और अपने विशेष बलसे सुन्दर छवि धारण कर लेते हैं [अर्थात् सुहाने लगते हैं।]

(२१२) अवरान् चक्रिया अवसे अभिष्टये आ ववर्तत्। (ऋ. २।३४।१४)

श्रेष्ठ वीरोंको क्रमसे रक्षणार्थ और अभीष्ट कर्मकी पूर्तिके लिए समीप लाता हूँ।

ऊतये महि वरूथं दधानः।

अपने रक्षणके लिए वीर बडे स्थान या गृहको प्राप्त होता है।

(२१३) अंहः अति पारयथ, निदः मुञ्चथ, ऊतिः अर्वाची सुमतिः ओ सु जिगातु। (ऋ. २।३४।१५)

पापसे बचाओ, निन्दासे छुडाओ। संरक्षण तथा सुबुद्धि हमारे निकट आ पहुँचे।

[गाथिपुत्र विश्वामित्र ऋषि।]

(२१४) वाजाः तविषीभिः प्र यन्तु, शुभे संमिश्लाः पृषतीः अयुक्षत. अदाभ्याः विश्ववेदसः बृहदुक्षः पर्वतान् प्र वेपयन्ति। (ऋ. ३।२६।४)

बलिष्ठ वीर अपने बलोंके साथ शत्रुदलपर चढाई करें; लोककल्याणके लिए इकट्ठे होकर वे अपने घोडोंको रथमें जोत दें (वे तैयार हों।) न दबनेवाले वे वीर सब धनों एवं बलोंसे युक्त हो पर्वततुल्य स्थिर शत्रुओंको भी कँपा देते हैं।

(२१५) वयं उग्रं त्वेषं अवः आ ईमहे। (ऋ. ३।२६।५)

हम उग्र, तेजस्वी संरक्षक सामर्थ्यकी इच्छा करते हैं।

ते वर्षनिर्णिजः खानिनः सुदानवः।

वे वीर स्वदेशी वरदी पहननेवाले हैं और बडे भारी वक्ता तथा विख्यात दानी हैं।

(२१६) गणं-गणं व्रातं-व्रातं भामं ओजः ईमहे। (ऋ. ३।२६।६)

हर वीरसमुदायमें सात्विक बल तथा ओज पनपने लगे यही हमारी चाह है।

अनवभ्रराधसः धीराः विदथेषु गन्तारः।

जिनका धन कोईभी छीन नहीं सकता, ऐसे ये वीर रणभूमिमें जानेवाले ही हैं।

[अत्रिपुत्र श्यावाश्व ऋषि।]

(२१७) यज्ञियाः धृष्णुया अनुष्वधं अद्रोघं श्रवः मदन्ति (ऋ. ५।५२।१)

सचित्र वाल्मीकि रामायणका मुद्रण।

" बालकांड, " "अयोध्याकांड (पूर्वार्ध)" तथा " सुंदरकांड " तैयार हैं।

अब संपूर्ण रामायणका अग्रिम मू० २६) रु० है।

रामायणके इस संस्करणमें पृष्ठ के ऊपर श्लोक दिये हैं, पृष्ठ के नीचे आधे भाग में उनका अर्थ दिया है, आवश्यक स्थानों में विस्तृत टिप्पणियां दी हैं। जहां पाठके विषयमें सन्देह है, वहां हेतु दर्शाकर सत्य पाठ दर्शाया है।

इन काण्डों में दो रंगीन चित्र हैं और सादे चित्र कई हैं। जहां तक की जा सकती है, वहां तक चित्रों से बडी सजावट की है।

इसका मूल्य।

सात काण्डों का प्रकाशन १० ग्रन्थों में होगा। प्रत्येक ग्रन्थ करीब करीब ५०० पृष्ठों का होगा। प्रत्येक ग्रन्थ का मूल्य ३) रु० तथा डा० व्य० रजिस्ट्रीसमेत ॥=) होगा। यह सब व्यय ग्राहकों के जिम्मे रहेगा। प्रत्येक ग्रंथ अधिक से अधिक तीन महीनों में प्रकाशित होगा। इस तरह संपूर्ण रामायण दो या ढाई वर्षों में ग्राहकों को मिलेगी। प्रत्येक ग्रंथ का मूल्य ३) है, अर्थात् सब दसों विभागों का मूल्य ३०) है और सब का डा० व्य. ६॥) है।

पेशगी मूल्य से लाभ।

जो ग्राहक सब ग्रन्थ का मूल्य एकदम पेशगी भेज देंगे, उनको डा० व्य० के समेत हम ये सब दसों विभाग केवल २६) में देंगे। यह मूल्य इकट्ठा ही आना चाहिये।

प्रत्येक भाग प्रकाशित होनेपर सहूलियतका मू. २) रु. बढता जायगा। इसलिए ग्राहक त्वरा करें।

मन्त्री स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) Aundh, (Dist. Satara)

Surya Namaskars

(Sun-Adoration)

You whether rich or poor, old or young, always need Health.

" Surya Namaskars " by Rajasaheb of Aundh, is the only book that reveals to you the secret of securing Health.

" Surya Namaskars " has been translated into all the principal languages of India and Europe, by learned Pandits of their own accord.

This fact alone will convince you of the inherent worth (merit) of the book " Surya Namaskars. "

It is the Fifth Edition, improved and enlarged. With its 198 + vii pages, 30 full-page Illustrations and copious Index, it can be had for RUPEE ONE ONLY; Postage As. 6 extra.

An Illustrated Wall-chart can be had for Two Annas only.

The Book as it now appears is a call to arms to secure for you the high standard of health, which is your birth-right.

Sole Agents—

Swadhyaya Mandal, Aundh (Dist. Satara)

Regd. No. B. 1463

संपूर्ण महाभारत ।

अब संपूर्ण १८ पर्व महाभारत छाप चुका है। इस सजिल्द संपूर्ण महाभारतका मूल्य ६५) रु. रखा गया है। तथापि यदि आप पेशगी म० आ० द्वारा संपूर्ण मूल्य भेजेंगे, तो यह ११००० पृष्ठोंका संपूर्ण, सजिल्द, सचित्र ग्रन्थ आपको रेलपार्सल द्वारा भेजेंगे, जिससे आपको सब पुस्तक सुरक्षित पहुंचेंगे। आर्डर भेजते समय अपने रेल्वेस्टेशनका नाम अवश्य लिखें। **महाभारतका** नमूना पृष्ठ और सूची मंगाईये।

श्रीमद्भगवद्गीता ।

इस '**पुरुषार्थबोधिनी**' भाषा-टीकामें यह बात दर्शायी गयी है कि वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थोंकेही सिद्धान्त गीतामें नये ढगसे किस प्रकार कहे हैं। अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस '**पुरुषार्थ-बोधिनी**' टीका का मुख्य उद्देश है, अथवा यही इसकी विशेषता है।

गीता— के १८ अध्याय तीन विभागो में विभाजित किये हैं और उनको एकही जिल्द बनाई है। मू० ९) रु० डाक व्यय १॥) म० आ० से ९) रु० भेजनेवालोंको डाकव्यय माफ होगा।

भगवद्गीता-समन्वय ।

यह पुस्तक श्रीमद्भगवद्गीता का अध्ययन करनेवालोंके लिये अत्यंत आवश्यक है। '**वैदिक धर्म**' के आकार के १३५ पृष्ठ, चिकना कागज मू० १) सजिल्द का मू० १॥) रु०, डा० व्य० ।=)

भगवद्गीता-श्लोकार्धसूची ।

इसमें श्रीमद् गीताके श्लोकार्धोंकी अकारादिक्रमसे **आद्याक्षरसूची** है और उसी क्रमसे **अन्त्याक्षरसूची** भी है। मूल्य केवल ।=), डा० व्य० =)

आसन ।

'योग की आरोग्यवर्धक व्यायाम-पद्धति'

अनेक वर्षोंके अनुभवसे यह बात निश्चित हो चुकी है, कि शरीरस्वास्थ्यके लिये आसनोंका आरोग्यवर्धक व्यायामही अत्यंत सुगम और निश्चित उपाय है। अशक्त मनुष्य भी इससे अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं। इस पद्धतिका सम्पूर्ण स्पष्टीकरण इस पुस्तकमें है। मूल्य केवल २ दो रु० और डा० व्य० ।≈) सात आना है। म० आ० से २।≈) रु० भेज दें।

आसनोंका चित्रपट- २०"×२७" इंच मू० ≈) रु., डा. व्य. -)

मंत्री-स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवळेकर, भारत-मुद्रणालय, औन्ध